प्रकाशन संख्या—३०

सिंहावलोकन

हिन्दुस्तानी-समाजवादी-प्रजातंत्र सेना द्वारा भारत में सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा के सम्बन्ध में लेखक के संस्मरण।

यशपाल

प्रकाशक

विप्लव कार्यालय, लखनऊ

फरवरी १९५५]

साढ़े [illegible] रुपये

मेरे यह संस्मरण अपने उन साथियों की स्मृति में

समर्पित हैं

जिनके प्रति विश्वास से और जिनके सहयोग के भरोसे अपने देश की जनता के लिये मनुष्यता के अधिकार पाने के संघर्ष में मृत्यु का भय भी रुकावट न डाल सका था

और

अपने आज के उन साथियों को भी जो पहले किये जा चुके प्रयत्नों में असफलता के अनुभवों और भविष्य में भय की आशंका देख कर भी, जनहित के लिये अपना सर्वस्व बाजी पर लगाने में झिझक नहीं दिखा रहे। अपने यह अनुभव उनके लिये उपयोगी हो सकने के विश्वास में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

यशपाल

प्रसंग-क्रम

भूमिका

सिंहावलोकन के पहले दो भागों के साथ भी भूमिका के रूप में कुछ लिख चुका हूँ। तीसरे भाग में यह संस्मरण समाप्त हो रहे हैं। समाप्ति के समय भी कुछ कहना संगत जान पड़ रहा है।

पहली बात है इन संस्मरणों के क्षेत्र और रूप के सम्बन्ध में। अधिकांश पाठकों की धारणा रही है कि मैं आपबीती या अपनी कहानी लिख रहा हूँ। हि०स०प्र०स के सम्बन्ध में मेरे संस्मरण, मेरी आपबीती या मेरे साथियों की आपबीती जरूर हैं परन्तु मेरी सम्पूर्ण आपबीती इन संस्मरणों में नहीं आ सकती, आनी भी नहीं चाहिये। महत्व हि०स०प्र०स आन्दोलन के लिए किये प्रयत्नों का है। उन प्रयत्नों का महत्व इसलिये नहीं कि वह किसी व्यक्ति विशेष के अनुभव हैं। हि०स०प्र०स से सम्बन्ध रखने वाली अनेक ऐसी घटनाओं का उल्लेख इन संस्मरणों में है जो, मेरे व्यक्तिगत अनुभव तो नहीं हैं परन्तु उनका सम्बन्ध मुझ से इसलिये है कि मैं हि०स०प्र०स के संगठन के अन्तर्गत था। जब भी कभी स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयत्नों का इतिहास लिखा जाने का समय आयेगा यह उल्लेख उपयोगी हो सकेंगे। मेरे सैकड़ों अनुभव ऐसे भी रहे हैं जिन का हि०स०प्र०स के लक्ष्य और क्षेत्र से सम्पर्क नहीं था, उनका उल्लेख आन्दोलन के इतिहास की दृष्टि से अनुपयुक्त होता इसलिये मैंने उन्हें इन संस्मरणों में नहीं लिखा।

घटनाओं के विवरण में दृष्टिकोण का महत्व बहुत अधिक रहता है; बल्कि दृष्टिकोण ही वास्तविक चीज़ है। अंग्रेज़ी साम्राज्यशाही के पोषक लेखकों द्वारा लिखे गये भारत के अतीत के इतिहास को, तटस्थ इतिहासज्ञों द्वारा लिखे उस काल के इतिहास को और अपने अतीत गौरव के लिये अन्ध-अभिमानी भारतीय इतिहास लेखकों द्वारा लिखे इतिहासों की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है। सम्भव है, अहिंसात्मक क्रान्ति की सफलता का गौरव करने वाले इतिहास लेखक हि०स०प्र०स के आन्दोलन को विपथगामी हिंसा के प्रयत्न ही समझें। हॉलिन्स ने भी अपनी पुस्तक 'No Ten Commandments' में चन्द्रशेखर आज़ाद की शहादत का वर्णन एक उद्धत डिप्रा. के पुलिस से लड़ाई में जूझ जाने के रूप में ही किया है। फिर भी मैंने प्रयत्न यही किया

है कि घटनाओं से अपने ममत्व को दूर रख कर लिखा जाय ताकि हमारी न्यूनताओं और विवशताओं को भी पाठक समझ सकें।

इन संस्मरणों के पिछले दो भागों से हि०स०प्र०स से व्यक्तिगत रूप से सम्बन्धित और परिचित लोगों का संतोष हुआ है, इस बात से मैं भी संतुष्ट हूँ। सभी का संतोष हो सकेगा ऐसी आशा न मैंने की थी न मुझे है। बुद्ध ने भी सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय कहने का साहस नहीं किया था। उन्हें बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय कह कर ही संतुष्ट होना पड़ा था क्योंकि कुछ लोगों का स्वार्थ और तृप्ति बहुजन के हित की विरोधी होती है। इस सत्य को मानना ही पड़ेगा और सत्य की रक्षा के लिये उसी के अनुसार आचरण भी करना पड़ेगा। घटनाओं और व्यक्तियों को विकृत रूप और रंग देने से जिनका प्रयोजन पूरा होता है, उन्हें मैं संतुष्ट नहीं कर सकता।

जहां तक बन पड़ा घटनाओं का उल्लेख प्रमाण सहित ही करने का प्रयत्न किया है। परन्तु अतीत की बातें लिखते समय और हो सकता है आज की भी अनेक वास्तविकताओं का वर्णन करते समय अदालती प्रमाण जुटा सकना सम्भव न हो। सचाई का अपना एक बल होता है। यदि मैंने वास्तविकता के साथ न्याय नहीं किया और कुछ लोगों का दावा है कि वे वास्तविकता को अधिक जानते हैं या अधिक सच्चाई से पेश कर सकते हैं तो उन्हें भी अवसर है कि पाठकों के सम्मुख सचाई को लाएँ। तटस्थ श्रोता या पाठक ध्यान देने पर सत्य और असत्य की परख स्वयं भी कर सकता है, इसी विश्वास के आधार पर मैं संस्मरणों के इन तीनों भागों को पाठकों को सौंप रहा हूँ।

संस्मरणों के विलम्ब से प्रकाशित होने के कारण पुस्तक के प्रसंग में स्वयं आ गए हैं। फिर भी इन संस्मरणों के प्रकाशित हो जाने का यदि कोई श्रेय है तो उसका बड़ा भाग उन लोगों का है जो मुझे इन्हें लिख डालने के लिये प्रेरित करते रहे हैं और सब से बड़ा भाग है प्रकाशवती का जिनकी दृष्टि में इन संस्मरणों के ठीक से लिखे जाने का बहुत ही अधिक महत्व रहा है।

८ फरवरी, १९५५

दल की रक्षा के लिये आज़ाद के प्रयत्न

४ सितम्बर, १९३० के दिन, दोपहर समय भैया आज़ाद ने दिल्ली की बम फैक्टरी में हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र सेना की केन्द्रीय समिति को भंग कर दिया। केन्द्रीय समिति को तोड़ देने की मजबूरी का मूल कारण मुझे गोली मारने के निर्णय को बदल देना ही था। यह निर्णय बदल देने से दो समस्याएँ उठ खड़ी हुईं जिनके कारण दल को एक बार तोड़ देना अनिवार्य हो गया। एक समस्या यह थी कि पंजाब में धन्वन्तरी और सुखदेवराज मुझे दण्ड न दिया जाने का क्या कारण बताते? यदि वे कहते कि यशपाल पर लगाये गये आरोप ग़लत थे तो यह बात उनके प्रति साथियों के विश्वास को समाप्त कर देती क्योंकि आरोप उन्होंने ही लगाये थे। यदि यह कहा जाता कि यशपाल ने अपने अपराधों के लिये क्षमा मांग ली तो एतराज़ हो सकता था कि क्षमा मांगने का अवसर तो सज़ा निश्चित करने से पहले दिया जाना चाहिये था। तिस पर मैं यह अपमान कैसे सह लेता कि मैंने क्षमा मांग ली है। क्षमा मांगने का अर्थ होता अपराध को स्वीकार करना। मुझ पर आरोप लगा कर, मुझे गोली मार देने की मांग करने वालों का और मेरा, एक साथ काम कर सकना सम्भव नहीं रहा।

दूसरी जटिल समस्या थी कि केन्द्रीय समिति द्वारा मुझे गोली मार दी जाने के निर्णय का भेद खुला कैसे? केवल केन्द्रीय समिति का ही कोई सदस्य यह भेद खोल सकता था। जब तक यह पता न लग जाता कि किस सदस्य ने ऐसा किया है, सभी पर सन्देह किया जा सकता था। एक संदिग्ध आदमी को अपने बीच रख कर तो केन्द्रीय समिति चल नहीं सकती थी।

मैं किसी भी अवस्था में भेद देने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों के नाम बताने के लिये तैयार नहीं था। मैं न केवल नाम बताने के लिये तैयार नहीं

था बल्कि परिस्थिति को उलझा कर ठीक अनुमान कर सकने का भी अवसर न रहने देना चाहता था। उस समय मेरे विचार में मेरा और दल का भला चाहने वालों के प्रति मेरा यही कर्तव्य था। फिर भी कुछ बातें तो बहुत साफ़ थीं। उदाहरणतः मेरा कानपुर से दिल्ली लौटते ही प्रकाशवती को बम फैक्टरी से हटा ले जाना। यह प्रकट था कि सूचना मुझे कानपुर में ही मिल गयी होगी। आज़ाद को धोखे में रखने के लिये मैंने कह दिया था कि मुझे तो इस निर्णय का पता दिल्ली में ही लग चुका था। दिल्ली में यदि कोई भेद दे सकता था तो केवल कैलाशपति। पर आज़ाद को सन्देह वीरभद्र पर ही था। सम्भव है कि वीरभद्र ने केन्द्रीय समिति में इस निर्णय का कुछ विरोध किया हो और दूसरों के ज़ोर देने पर चुप रह गया हो। भैया को वीरभद्र पर सन्देह तो था पर प्रमाण न होने से उसके विरुद्ध कारवाई नहीं की जा सकती थी। अब उन्हें इस बात से तो संतोष था कि दल एक उपयोगी, विश्वस्त आदमी को मार डालने की भूल से बच गया पर इस बात का खेद भी कम नहीं था कि केन्द्रीय समिति पर भी पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता।

वीरभद्र के काम के औचित्य या अनौचित्य पर शायद मैं तटस्थ रूप से विचार न कर सकूं। यह तो मुझे मानना ही पड़ेगा कि दल का निर्णय चुपके से मुझे बता कर, दल को केन्द्रीय हानि या भयंकर भूल से बचाने की अपेक्षा, उसे समिति में ही इस निर्णय का विरोध करना चाहिये था। यह प्रश्न भी हो सकता है कि दल की भूल सामने आ जाने पर भी यदि वीरभद्र भेद खोल देने के अपराध के लिये दण्ड का अधिकारी था तो केन्द्रीय समिति में आरोप लगा कर उसे भ्रम में डालने वाले क्या उससे कहीं अधिक अपराधी नहीं थे? ऐसी अवस्था में कौन किसे और किस-किस को दण्ड देता।

मुझे गोली मारने का निर्णय बदल देने से धन्वन्तरी और सुखदेवराज तो असंतुष्ट थे ही परन्तु निर्णय जिस तरह बदला गया उससे स्वयं मुझे भी संतोष नहीं हुआ। मैं चाहता था कि मेरा जितना अपमान हुआ है उसका पूरा प्रतिशोध हो। मुझ से बिना कुछ जवाब तलब किये यह निर्णय कर देने या उसे स्वीकार कर लेने से मुझे आज़ाद के प्रति भी शिकायत थी। जब धन्वन्तरी ने पंजाब में यह कहना शुरू किया कि मेरे क्षमा मांग लेने के कारण आज़ाद ने निर्णय बदल दिया है तो मैंने अपने क्षमा मांग लेने की बात का विरोध तो किया ही साथ ही यह भी कहा कि दल का निर्णय बदल देने वाला आज़ाद कौन होता है? एक व्यक्ति दल का निर्णय कैसे बदल सकता है?

ऐसा निर्णय हुआ ही नहीं था, सब झूठ था। यह बात आज़ाद से कही गयी तो उनके गुस्से का क्या ठिकाना था। तर्क या नियम के रूप में तो मेरी बात ठीक थी परन्तु वास्तविकता यह थी कि उस अवस्था में आज़ाद के प्रति सब साथियों का विश्वास और आदर ही दल का एक मात्र आधार और अनुशासन रह गया था। हम सभी लोग सशस्त्र थे। एक दूसरे के प्रति क्रोध की भी कोई सीमा नहीं थी। तिस पर भी हम लोगों ने जो एक दूसरे पर चोट नहीं की, इसका एक कारण तो यह था कि हम लोग निजी मानापमान की अपेक्षा उद्देश्य को बड़ा समझते थे और दल की भावना के प्रति एक तरह का अनुशासन निबाहना भी कर्तव्य समझते थे। दल का एक मात्र प्रतीक उस समय आज़ाद का निर्णय ही था। पर अकेले कोई भी निर्णय कर सकने की क्षमता और विश्वास उन में न था।

आज़ाद उस समय स्वयं बड़ी कठिन बल्कि दयनीय स्थिति में थे। वे किसी को भी छोड़ देने के लिये तैयार नहीं थे। दूसरे सभी लोगों की खातिर मुझे छोड़ने के लिये भी तैयार नहीं थे। इसलिये उन्होंने सब झगड़ों को समाप्त करने के लिये दल को ही तोड़ दिया ताकि दल नये सिरे से, नये आधार पर बन सके। दल तोड़कर भिन्न-भिन्न प्रान्तों को शस्त्र बांटते समय उन्होंने एक बराबर का पूरा हिस्सा मुझे भी दिया; हालांकि उस समय मैं किसी प्रान्त का प्रतिनिधि नहीं था। इसे भी आज़ाद की मनमानी कहा जा सकता था परन्तु किसी ने इस पर आपत्ति नहीं की। आज़ाद ने सभी को अपने-अपने यहाँ स्वतन्त्र रूप से काम करने के लिये कह दिया। साथ ही यह भी आश्वासन दिया कि किसी को उनकी सहायता की आवश्यकता होगी तो जो हो सकेगा, वे करेंगे।

मुझ से आज़ाद ने कहा कि सब लोगों को अपनी-अपनी जगह काम करने दो। हम दोनों अलग से रह कर कुछ करें। इन झगड़ों का निपटारा ऐसे ही हो सकता है। इससे मेरा मन तो संतुष्ट नहीं हो गया पर दूसरा उपाय भी नहीं था। इसी समय लाहौर से समाचार मिला कि धन्वन्तरी और सुखदेवराज ने नहर के किनारे अब्दुलअज़ीज़ पर, जिस समय वह नहर की ओर से मोटर में आ रहा था, गोली चला दी है। इस घटना में अब्दुलअज़ीज़ को चोट भी नहीं आयी। परन्तु आक्रमण करने वाले भी नहीं पकड़े जा सके। इस आक्रमण की योजना के सम्बन्ध में धन्वन्तरी ने लाहौर में मुझ से भी बात की थी। मैंने उसी समय कह दिया था कि योजना में अपने प्राण बचाने की बात पर इतना

महत्व दिया जा रहा है कि इसकी सफलता में सन्देह है। आज़ाद से भी यही कहा था। उन दिनों चिढ़े हुए होने और स्वयं आगे बढ़कर अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा पा लेने की भावना मन में उग्र होने के कारण मेरे बोलने के ढंग में एक कटुता आ गयी थी। मेरी बात ठीक होने पर भी उसमें शेखी और दूसरों का तिरस्कार अधिक जान पड़ता था। स्वभावतः ही ऐसी बात पर ध्यान देने की इच्छा दूसरों को न होती थी। पंजाब में जाकर मेरे कुछ करने से दल में फूट ही बढ़ती। इसलिये यह भी उचित न समझा गया।

दिल्ली बम फैक्टरी में बनाया गया बहुत सा विस्फोटक मसाला तैयार पड़ा हुआ था। फैक्टरी में सुविधा और अवसर होने पर मैंने इस विषय की पुस्तकों की सहायता से पिक्रिक एसिड को रेत में दबाकर, भट्टी पर चढ़ाकर पिघला लिया था और उस से बहुत छोटे आकार परन्तु बहुत अधिक शक्ति के बम बना लिये थे। आज़ाद कानपुर छावनी से कुछ डाइना-माइट भी ले आये थे। यह सब साधन होने से आज़ाद ने सुझाव दिया कि वायसराय की स्पेशल पर चोट करने का हमारा एक प्रयत्न असफल हो गया तो क्या है, वही काम दूसरी बार क्यों न किया जाये?

मैंने कहा, जिस तरीके से अर्थात् रेल लाइन के नीचे बम दबाकर और जमीन में बिजली के तार गाड़कर हम एक बार विस्फोट कर चुके हैं, वही ढंग इतनी जल्दी दुबारा काम में लाने से हमारी योजना घटना से पहले ही पकड़ ली जायगी और हमारी खिल्ली मात्र उड़ कर रह जायगी। वायसराय पर आक्रमण करना हो तो कोई और ढंग सोचना चाहिये।

आज़ाद को हंसराज वायरलेस की बात याद आ गयी। पिछले दिसम्बर में वायसराय की स्पेशल के नीचे विस्फोट करने की तैयारी में सहायता के लिये हम लोगों ने हंसराज को दिल्ली बुलवाया था। जब वह श्रद्धानन्द-बाजार के बगल की गली के मकान में हमें अपनी 'डेढ़ गज़ी' और 'पांच गज़ी' के चमत्कार दिखा रहा था, एक दिन आज़ाद भी मौजूद थे। चमत्कार यह था कि हंसराज जेबी बैटरी के सेल में बाल जैसे महीन दो और तार बाँध देता था। एक महीन तार में बैटरी का बल्ब बंधा रहता था। दूसरा तार बल्ब से एक या डेढ़ इंच दूर ही रहता। यह दूसरा तार बल्ब पर लगाने से बल्ब जल उठता। एक बार समझ जाने पर इतना तो हम भी कर ही लेते थे। हंसराज का चमत्कार यह था कि वह दूसरे तार को बल्ब से स्वयं न छुआ कर एक छोटी सी शीशी को बल्ब की ओर ले जाता था। यह शीशी बल्ब के समीप पहुँचने पर बल्ब जल

उठता था। अर्थात् बल्ब से तार का सम्बन्ध स्वयं हो जाता था। इस शीशी में हंसराज तोला भर पानी में कुछ दवाइयाँ पीसकर घोल लेता था।

हंसराज इस चमत्कार का वैज्ञानिक कारण यह बतलाता था कि दवाइयों के मिश्रण से भरी उसकी शीशी के चारों ओर वातावरण में डेढ़ गज तक बिजली की ऐसी लहरें उत्पन्न हो जाती हैं जो बल्ब और तार का सम्बन्ध जोड़ देती हैं। कठिनाई यह थी कि शीशी का प्रभाव हंसराज के ही हाथ से होता था, किसी दूसरे के हाथ से नहीं। हम लोगों के हाथों यह काम न हो सकने का कारण हंसराज यह बताता था कि शीशी से उत्पन्न होने वाली लहरें खास-खास दिशा में चलती हैं। वह उस दिशा को पहचान जाता है, हम नहीं पहचान सकते। हंसराज किस शक्ति से बिजली की लहर की दिशा पहचान लेता था, यह वह बताता नहीं था। उत्तर था—"बस, मुझे पता लग जाता है।" वातावरण में बिजली की लहरों की दिशा भांपने के लिये रडर आदि यंत्र होते हैं। संसार भर के वैज्ञानिक इन्हीं यंत्रों से यह काम करते हैं। कोई भी व्यक्ति जो रडर का प्रयोग जानता है, यह काम कर सकता है। अपने शरीर या कल्पना से कोई भी वैज्ञानिक ऐसा नहीं कर सकता। हंसराज का दावा था कि वह कर सकता था।

हंसराज स्वयं उत्पन्न की हुई बिजली की लहरों के चमत्कार के अतिरिक्त हमें सम्मोहन या मैसमरेज़िम के चमत्कार भी दिखाया करता था। उसके इन चमत्कारों में अधिकांश हाथ की सफाई ही थी परन्तु हम चक्कर में जरूर आ जाते थे। तीन बार अर्थात् नवम्बर १६२६ में, वायसराय की स्पेशल के नीचे विस्फोट के प्रयत्न के समय, और लाहौर में साथियों को जेल से छुड़ाने की योजना के समय भी, हंसराज से धोखा खा चुके थे लेकिन फिर भी आज़ाद को उसकी याद आई कि यदि किसी चामत्कारिक ढंग से हम वायसराय पर आक्रमण कर सकें तो इसका प्रभाव बहुत ही व्यापक होगा। आज़ाद के लिये यह कहना कि स्वयं खतरा सिर पर बिना लिये वायसराय की जान ले सकने की आशा में उन्होंने ऐसी बात सोची होगी, उन्हें गलत समझना है। अभिप्राय था कि यदि अंग्रेज़ सरकार हमारे आक्रमण के साधन का रहस्य जान नहीं पायेगी तो और भी अधिक आतंकित और चिंतित होगी।

आज़ाद ने यह तर्क भी दिया कि इससे पूर्व हंसराज अपने प्रति सन्देह होने के भय से और अपने आपको संकट में न डालने के लिये हमें चलाता रहा होगा; अब इन्द्रपाल की करतूत से उस पर सन्देह तो हो ही गया है। अब उसे

सन्देह हो जाने के भय का कोई कारण शेष नहीं रह गया। भैया ने कहा—"तुम एक बार हंसराज को ढूंढ कर उससे फिर मिलो। यदि वह हमें वायरलेस का साधन दे सके तो हम उसकी प्राण रक्षा के लिये उसे देश से बाहर भिजवाने का प्रबन्ध करने के लिये भी तैयार हैं। हंसराज को ढूंढ सकने का सूत्र लायलपुर में उसके घर से ही मिल सकता था। भैया ने कहा—"इस काम के लिये जैसे भी हो तुम एक बार और कोशिश करो।"

धन्वन्तरी, सुखदेवराज और कैलाशपति ने मुझ पर फिजूलखर्ची करने का आरोप भी लगाया था। उस बात से खिन्न होकर मैंने निश्चय किया था कि मैं भविष्य में अपने या प्रकाशवती के निर्वाह के लिये न तो दल के पैसे पर और न दल के प्रबन्ध पर निर्भर करूंगा। १९२९ में वायसराय की स्पेशल के नीचे विस्फोट की आयोजना ओखले के पास करते समय यह भी खयाल आया था कि घटना के बाद दिल्ली की ओर रेल का फाटक बन्द मिलेगा, हम मथुरा ही क्यों न चले जायं। इस विचार से मथुरा का कुछ परिचय पाने के लिये मैं कई बार श्रद्धालू बनिये के रूप में मथुरा वृन्दावन हो आया था।

आचार्य जुगलकिशोर जी जो इस समय उत्तर प्रदेश के कांग्रेसी मंत्री मंडल में हैं, उन दिनों प्रेम महाविद्यालय के प्रिंसिपल थे। आचार्य जी लहौर में हमारे नेशनल कालेज में भी प्रिंसिपल रह चुके थे। मैं दो-एक बार प्रेम महाविद्यालय जाकर उनसे मिल आया था और उनसे कुछ सहायता भी मिली थी। जुगलकिशोर जी की आचार्य कृपलानी से विशेष आंतरिकता थी। कृपलानी जी उन दिनों और बाद में भी बहुत दिनों तक इंडियन नेशनल कांग्रेस के प्रधान मंत्री थे। गांधी जी पर उनका विशेष प्रभाव भी था। आचार्य जी की मार्फत कांग्रेस के प्रधान मंत्री से परिचय हो सकता था। इस मार्ग से राष्ट्रीयता की भावना रखने वाले सम्पन्न क्षेत्र में हमारी पहुँच हो सकती थी। इस से आर्थिक सहायता मिलने की सम्भावना तो हो ही सकती थी साथ ही यह भी खयाल था कि कभी गांधी जी से भी दो-दो बातें हो सकें और उन्हें अपनी विचारधारा और ईमानदारी से परिचित कराकर यह अनुरोध करें कि वे कम से कम क्रान्तिकारियों के विरुद्ध वक्तव्य देना छोड़ दें।

आचार्य जुगलकिशोर जी की मार्फत कृपलानी जी से परिचय हो गया अर्थात कृपलानी जी को यह आशंका न हुई कि मैं खुफिया पुलिस का आदमी हो सकता हूँ। बनारस विश्वविद्यालय या पटना में पढ़ाते समय कृपलानी जी की क्रान्तिकारियों से कुछ सहानुभूति भी रही थी। पहले परिचय में मैंने

कृपलानी जी से केवल परिचय भर पा लिया था, अधिक बात नहीं कर पाया। उन दिनों १६२६ के अक्टूबर में आल इंडिया कांग्रेस की वर्किंग कमेटी की बैठक दिल्ली में, उस समय की असेम्बली के कांग्रेसी प्रेज़ीडेंट, विट्ठल भाई पटेल के बंगले पर हो रही थी। मैं और भगवती भाई उन दिनों श्रद्धानन्द बाजार के बगल की गली में थे। सोचा कि यदि इस समय आल इंडिया कांग्रेस की वर्किंग कमेटी के अधिवेशन में जाकर कृपलानी जी की मार्फत मैं दूसरे प्रभावशाली लोगों से भी परिचय पा सकूं तो उपयोगी होगा। इस प्रयोजन से शुद्ध खद्दरधारी खयालीराम जी गुप्त से खूब सफेद खद्दर का कुर्ता-धोती और टोपी ली और आंडी की चादर ओढ़, कुर्ते के नीचे धोती में पिस्तौल खोंसे, कांग्रेसी नेताओं की तरह चमड़े का एक बेग हाथ में लटकाये टांगे पर सवार होकर विट्ठल भाई की कोठी पर पहुँचा। भगवती भाई ने सलाह दी थी कि यह सब आडम्बर करने की जरूरत नहीं। तुम सीधे-सादे सूट पहन कर ही जाओ। पर मुझे वह सलाह ठीक न जंची थी।

कांग्रेस की तिरंगी पेटियां लगाये स्वयंसेवकों ने मुझे कोठी के फाटक पर ही रोक लिया। उन्हें बहुत समझाया कि मुझे कृपलानी जी ने आवश्यक कार्य के लिये बिहार से बुलाया है पर उन्होंने एक नहीं सुनी। लौट आना पड़ा। परास्त होकर भी मन में अच्छा ही लगा कि हमारी कांग्रेस के स्वयंसेवकों में काफ़ी अनुशासन आ गया है। लौटने पर भगवती भाई ने कहा—"तुमसे पहले ही कहा था कि सूट पहन कर मोटर साइकल पर जाओ।" दूसरी बार हैट और सूट में मोटर साइकल पर गया। कांग्रेस स्वयंसेवकों ने न केवल पूछताछ ही नहीं की बल्कि रास्ते में बेपरवाही से खड़े अपने साथियों को परे हटने के लिये डांट कर रास्ता साफ़ कर दिया।

मैं दोपहर के भोजन के लिये कार्यकारिणी की बैठक स्थगित होने के समय गया था। कृपलानी जी से मिला कि कुछ लोगों से परिचय करा दें। कोठी के बरामदे में सामने ही खड़े दिखायी दिये पंजाब के प्रसिद्ध नेता डाक्टर गोपीचंद जी भार्गव। कृपलानी जी उन से परिचय कराने लगे। मैंने उत्तर दिया—"डाक्टर साहब मुझे पहचानते हैं।" डा० साहब ने ज़रा मुस्करा दिया और आगे बात टालने के लिये भीतर चले गये। समीप ही सुभाष बाबू खड़े थे। कृपलानी जी ने उनसे परिचय कराया। सुभाष बाबू का चेहरा खिल उठा। दोनों हाथों से पकड़ आत्मीयता से मिले और बोले—"...किसी समय ज़रा अच्छी तरह से बात हो।"—मेरे दो बार आने के चक्कर में [illegible] के

अवकाश का समय बीत चुका था। अधिवेशन दुबारा आरम्भ होने की घंटी बज रही थी। अधिवेशन में जाकर उन्हें ही बोलना था। अवसर की बात उसी संध्या उन्हें आवश्यक कार्य से कलकत्ते भी लौट जाना था। फरारी में उनसे फिर मुलाकात नहीं हो सकी। उस के बाद मुलाकात हुई १९४० में, जब उन्हें कांग्रेस के प्रधान पद से त्याग पत्र दे देना पड़ा था और वे फारवर्ड ब्लाक का संगठन करने में लगे हुए थे। उस समय सुभाष बाबू युवक कांग्रेस का उद्घाटन करने लाहौर जा रहे थे और मैं लाहौर के प्रेस कर्मचारियों की कान्फ्रेंस का उद्घाटन करने उसी गाड़ी से जा रहा था। सुभाष बाबू को मुझे पहचानने में कठिनाई नहीं हुई। पर फारवर्ड ब्लाक का कार्यक्रम मुझे ठीक नहीं जंच रहा था।

१९३० सितम्बर में जब अपने ठहरने और निर्वाह की व्यवस्था की चिन्ता में वृन्दाबन में आचार्य जी के पास गया तो कृपलानी जी से भी मुलाकात हो गयी। मैंने उन्हें वायसराय की स्पेशल की घटना की बात याद दिलाकर कहा—"....देखिये हम कुछ न कर सकते हों ऐसी बात नहीं। हमारा उद्देश्य तो भगतसिंह के अदालत में दिये बयान के रूप में सब के सामने है। हमारे किस उद्देश्य से आपको आपत्ति है? गांधी जी ने व्यर्थ में हमारी निन्दा का प्रस्ताव लाहौर कांग्रेस में रखा। इसकी क्या जरूरत थी? गांधी जी के प्रस्ताव को पास होने में कितनी कठिनाई हुई? आप स्वयं समझ सकते हैं जनता की भावना क्या है? आपको तो हमारी सहायता करनी चाहिये।" कृपलानी जी की जैसी आदत है उन्होंने कहा—"अपना लेक्चर तुम रहने दो। यह बताओ कि चाहते क्या हो?"—उत्तर दिया—"आपकी मार्फत हम केवल आर्थिक सहायता की ही आशा कर सकते हैं।"

कृपलानी जी ने हामी भरी कि यदि हम इस बात का आश्वासन दें कि भविष्य में हम कोई हिंसात्मक घटना नहीं करेंगे तो वे हमारे सब साथियों के साधारण गुजारे के लिये आर्थिक सहायता की जिम्मेवारी ले लेने के लिये तैयार हैं।

मुझे यह शर्त कुछ अजीब सी लगी। हम जो काम कर सकने के लिये सहायता चाहते थे कृपलानी जी वही काम न करने की शर्त लगा रहे थे। मैंने उत्तर दिया—"छिपे रहकर केवल पेट भर लेना तो बड़ी भारी समस्या नहीं है। हम लोग कहीं भी छोटी सी मनियारी या पान की दुकान करके या किसी कारखाने में मज़दूरी या मुंशी की नौकरी करके पेट पाल ले सकते हैं। सहायता की ज़रूरत तो अपना आन्दोलन चलाने के लिये ही है।"

इस पर कृपलानी जी बिगड़ उठे—"तुम लोगों के सिर पर तो शहीद बनने का जुनून चढ़ा है। हमारा तुम्हारा कोई सहयोग नहीं हो सकता।"

तर्क करने से कोई लाभ नहीं था पर इतना मैंने भी कह ही दिया—"आचार्य जी, यह कोई बहुत बुरा जुनून तो नहीं है।"

बाद में जुगलकिशोर जी ने बताया कि कृपलानी जी मेरे लिये संदेश दे गये हैं कि मैं कभी मेरठ जाऊँ तो वहाँ गांधी आश्रम में उनसे मिल सकता हूँ। उसके कई दिन बाद मेरठ जाने का अवसर हुआ तो गांधी आश्रम का भी चक्कर लगा लिया। कृपलानी जी उस समय वहाँ नहीं थे। आजकल उत्तर प्रदेश सरकार के यातायात विभाग के मंत्री विचित्र नारायण जी शर्मा मिले। उन्होंने परिचय पाकर बताया कि कृपलानी जी मेरे लिये एक लिफ़ाफ़ा छोड़ गये हैं। लिफ़ाफ़ा ले आकर एकान्त में खोला उस में सौ-सौ रुपये के दो या तीन नोट थे और साथ ही एक पुर्जा था—"For personal needs" (निजी आवश्यकता के लिये) अर्थात् कृपलानी जी यह नहीं चाहते थे कि उनका दिया रुपया हमारे 'हिंसात्मक' आन्दोलन में लगे। यह कैसे हो सकता था? हम स्वयं ही उस आन्दोलन के लिये जिन्दा थे।

इस बार वृन्दाबन जाने का प्रयोजन यह था कि स्वयं हंसराज की खोज में जाने से पहले प्रकाशवती को कुछ दिन के लिये किसी सुरक्षित स्थान में छोड़ जाऊँ। प्रकाशवती को घर से आये केवल पाँच ही मास हुए थे। अभी तक वे पार्टी के स्थानों ही में रही थीं या एकाध बार हम से सहानुभूति रखने वालों के यहां। अभी उन्हें फरारी का अनुभव कम ही था। बाद में तो वे फरार रहते नाम बदल कर अध्यापिका का काम कर अपना निर्वाह भी करने लग गयीं। वृन्दाबन में प्रेम महाविद्यालय कांग्रेसी असहयोगियों का अड्डा था। वैसे भी वह अंग्रेज़ों के पुराने विद्रोही राजा महेन्द्रप्रताप की जागीर थी और शायद शिक्षा के काम के लिये एक ट्रस्ट के हवाले कर दी जाने के कारण ही जब्त नहीं हुई थी। परन्तु खुफ़िया पुलिस की नज़र इस संस्था पर अवश्य रहती थी। वहाँ प्रकाशवती का अधिक दिन ठहरना उचित न था। मौक़े की बात, आचार्य जी के यहाँ कालिज का पुराना साथी और दोस्त मनोहरलाल खन्ना मिल गया। मनोहर भी हमारे दल के लिये आनन्द जी द्वारा चुने हुये पुराने लोगों में से था। मनोहर को आनन्द जी ने विदेश आने-जाने या विदेशों से शस्त्र मंगा सकने का मार्ग बनाने के लिये कुछ दिन बम्बई और लंका में रहने के लिये भेजा था पर कोई संतोषजनक काम करने को नहीं बताया।

समय व्यर्थ जाता देख वह अलग हो गया था। जयचन्द्र जी द्वारा दीक्षित परन्तु साथ न रह सकने वाले और भी अनेक साथी हमें बाद में कुछ न कुछ सहायता देते रहे।

मनोहर को फार्मिंग का शौक था। उन दिनों वह बुलन्दशहर जिले में प्रेम महाविद्यालय के गाँवों और फार्म का मैनेजर बन गया था। उसका दफ्तर या कचहरी बराल गाँव में थी। उसने अपने यहाँ रानी के रहने की सुविधा कर देने का आश्वासन दिया। प्रकाशवती आचार्य जी के यहाँ आकर रही तो उन्होंने उसे 'रानी' नाम दे दिया। इसके बाद अपने परिचितों में उसका यही नाम चल पड़ा और अभी तक चला आता है। मनोहर आरम्भ से ही सुरुचि और सलीके का आदमी था। अब गाँवों और फार्म का मैनेजर होने और बड़ा आदमी समझा जाने के कारण रहता भी साहबी ढंग से था। हैट, बिर्चिस और घुटनों तक ऊँचे बूट।

बहुत दिनों की तनाव की जिन्दगी के बाद मनोहर के यहां कुछ समय आराम और बेफिक्री से रहने को मिला। मनोहर के पास पिस्तौल और शिकारी बन्दूक का लाइसेंस भी था। उसकी स्थिति भी ऐसी थी कि वहां पिस्तौल को हरदम छिपाये रखने की चौकसी की भी जरूरत न थी। निश्चिन्त, जितना सोया जा सकता सोने, खाने के लिये भी कमी नहीं थी। मैं भी वायसराय की स्पेशल के नीचे विस्फोट के समय पहनी हुई बिर्चिस और बूट ले आया था। बड़े ठाट से बिर्चिस, बूट पहन कर बंदूक ले झाड़ियों में शिकार के लिये निकल जाते। शिकार से मतलब कोई चीते, सुअर का नहीं, यही चिड़ियों का निरापद शिकार। साथ में शिकारी भंगी भी रहता। निशाना मेरा खास बहुत अच्छा नहीं था। भैया आज़ाद के कहते रहने पर भी कभी अधिक अभ्यास नहीं किया। पर इतना बुरा भी नहीं था कि सौ दो सौ गज से गिद्ध के आकार की चिड़िया को भी न मार सकूं। गाँव के समीप तालाबों पर गिद्ध जितनी बड़ी सफेद रंग की खूब बड़ी-बड़ी चिड़ियां काफी संख्या में थीं। उनका रूप और आकार कुछ बगलों जैसा ही था पर बीच में कुछ पंख गुलाबी रंग के भी होने के कारण सुन्दर लगती थीं। स्वभाव से बहुत सुस्त। बन्दूक को देखकर भी उनका मन उड़ जाने को न चाहता। झुण्ड में से एक को गिरा भी लीजिये तो शेष उड़ कर दूसरे पेड़ पर बैठ जातीं।

अपना निशाना देखने की इच्छा से मैंने एक चिड़िया को गिरा दिया। शिकारी ने जमीन्दारी ढंग से मेरे निशाने की प्रशंसा के पुल बांध दिये। फिर

एक और चिड़िया पर बन्दूक चलायी। वह भी गिर गयी। झुण्ड की शेष चिड़ियां तो दूसरे वृक्ष पर जा बैठीं परन्तु इस चिड़िया के जोड़े ने बहुत विलाप शुरू कर दिया। बाल्मीकि मुनि का श्लोक याद आ गया—"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समा...." और सचमुच बहुत पश्चात्ताप भी हुआ। विलाप करती चिड़िया का दुख दूर करने के लिये उस पर निशाना किया तो वह उड़ जाने लगी। दो कारतूस व्यर्थ गये। आखिर अपने सम्मान की रक्षा के लिये और चिड़िया का भी दुख दूर करने के लिये उसे तो मार ही दिया परन्तु साथ ही शिकार का शौक भी समाप्त हो गया।

मनोहर का आस-पास के गांवों के कुछ जमीन्दारों से परिचय था। उनके यहां भी वह हमें ले जाता और हमारा परिचय अपने रिश्तेदारों के रूप में करा देता। मनोहर से पता चला कि बराल से कुछ ही दूर एक गांव में मेरे कालिज के सहपाठी चौधरी रामधनसिंह का मकान था। रामधनसिंह का पता लग जाना तो बहुत ही उपयोगी जान पड़ा। रामधनसिंह भी जयचन्द्र जी द्वारा चुने गये लोगों में से था परन्तु जयचन्द्र जी की ही शिथिलता के कारण निरुत्साहित होकर बैठ गया था। जयचन्द्र जी ने रामधनसिंह को पेशावर के समीप मर्दान में जाकर रहने और सरहद्द पार के लोगों से सम्पर्क जोड़ने का काम सौंपा था। इससे दो काम हो सकते थे। एक तो उधर से रिवाल्वर-पिस्तौल खरीदे जा सकते थे दूसरे उस रास्ते विदेश, खासकर रूस जाने की भी सम्भावना हो सकती थी।

चौधरी रामधनसिंह बहुत खुलकर आत्मीयता से मिला। बी० ए० पास कर लेने के बाद जमीन जोतने का काम उसे रुचिकर नहीं लगा। मुंशीगीरी भी नहीं करना चाहता था। इसलिये कानपुर में चमड़े का काम सिखाने वाले सरकारी स्कूल में जूता बनाने की शिक्षा ले रहा था। रामधनसिंह की यह छोटी सी बात उसकी क्रान्तिकारी मनोवृत्ति की पर्याप्त परिचायक थी। हरियाना, गुड़गांव और बुलन्दशहर के जाट अपने आप को क्षत्री मानते हैं। गुण कर्म भी उनके राजपूतों से भिन्न नहीं। ऐसी अवस्था में रामधनसिंह का जूता बनाने का काम सीखने लगना, उसकी यथार्थवादी और क्रान्तिकारी प्रवृत्ति का प्रमाण नहीं तो क्या था?

एक दिन अच्छा परिहास हो गया। रामधनसिंह के पिता रिसाले में सूबे-दार हो जाने के बाद पेंशन पाकर घर पर ही रह रहे थे। मैं रामधनसिंह के यहां गया तो [illegible] ढंग [illegible] कपड़े पहने था। रामधन के पिता

सुबह अपनी पेंशन लेने तहसील अर्थात् बुलन्दशहर गये थे। लौटकर बता रहे थे कि तहसील में उन्होंने एक इश्तहार देखा कि जो आदमी लाट साहब की गाड़ी के नीचे बम चलाने वाले को पकड़ा देगा उसे सरकार तीस हज़ार रुपया इनाम देगी। और बताने लगे—"इनाम के इश्तहार लगाने से कहीं ऐसे आदमी पकड़े जायेंगे ? जब पहरे में बम चलाते समय सालों को दिखाई नहीं दिया तो अब क्या दिखाई देगा ! ऐसे लोग बड़े करतबी होते हैं। अपने पास गिदड़सिंगी (गीदड़ का सींग) रखते हैं। आदमी के पास गिदड़सिंगी हो तो सामने बैठा भी दिखाई नहीं दे सकता।"—मैं उनके सामने ही तो बैठा था। रामधनसिंह ने बड़ी गम्भीरता से पूछा—"चच्चा, गिदड़सिंगी मिल कैसे सकती है ? सूबेदार साहब ने बताया—"बड़ा मुश्किल होता है। सुना है, कहीं लाखों गीदड़ों में किसी एक के सींग होता है। यह तो जादूगर लोगों के काम हैं। एक तरह की जोगमाया समझो।"

रामधनसिंह के पिता सूबेदार तो थे ही। पहले महायुद्ध में फ्रांस, मसोपोटामिया के मैदानों में अंग्रेज़ सरकार के लिये लड़ भी आये थे यानि विदेश भ्रमण भी कर आये थे। अंग्रेज़ सरकार को अपने सैनिकों का बौद्धिक स्तर इस से ऊँचा उठाना उचित नहीं जान पड़ता था।

वायरलेस की दुबारा खोज

प्रकाशवती मनोहर के यहाँ रहीं और मैं हंसराज की खोज में चला। हंसराज वायरलेस से सम्बन्ध रखने वाले हमारे सभी साथी, सुखदेवराज को छोड़कर, इन्द्रपाल के साथ दूसरे लाहौर षड़यंत्र केस में गिरफ्तार हो गये थे। इसमें भी सन्देह ही था कि कोई दूसरा व्यक्ति हंसराज के घर जाता तो उसके माता-पिता हंसराज का पता बता देते क्योंकि हंसराज पर पुलिस के सन्देह की बात वे जान चुके थे। मैं स्वयं लायलपुर गया और हंसराज की माँ से मिला। उन्हें विश्वास दिलाया कि हंसराज की रक्षा के लिये उससे मिलना चाहता हूँ। उन्होंने बताया कि वह कराची में अपने भाई ब्रह्मदेव के यहाँ ठहरा हुआ है और ब्रह्मदेव का पता दे दिया। ब्रह्मदेव वोल्काट ब्रदर्स के दफ्तर में क्लर्क था।

मैं अक्तूबर के पहले सप्ताह में कराची पहुँचा। ब्रह्मदेव शायद गाड़ीखाता मुहल्ले में तिमंजिले पर एक कोठरी में सपत्नीक रहता था। हंसराज वहाँ ही था। हंसराज से बात की। उसने कहा अब क्या है, अब तो करना ही होगा। मैंने इन्द्रपाल की गलती के लिये अफसोस भी किया अस्तु हंसराज तैयार हो

Reward Rs. 1,500.

Reward Rs. 500.

Reward Rs. 300.

Reward Rs. 500.

क्रांतिकारी फरारों की गिरफ्तारी के लिये सरकारी इनाम का इश्तहार।

गया। उसने कठिनाई बतायी कि कराची में उसके पास सामान नहीं है। सामान जुटाने में कम से कम एक मास लगेगा। उसने नवम्बर के महीने में कोई तारीख बता दी कि उस दिन या उसके बाद किसी भी दिन मैं आकर पांच सौ गज़ तक बिजली की लहरें पैदा करने वाला एक बल्ब ले जा सकूंगा। उस बल्ब के साथ एक शीशी रहेगी। जब तक शीशी रहेगी बल्ब से लहरें न निकलेंगी शीशी को बल्ब से दूर करते ही बल्ब सक्रिय हो जायगा। उसने जिस ढंग से बातचीत की उसके इरादे और नीयत में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं जान पड़ी।

कराची से गाड़ी पांच-छः बजे शाम को चलती थी। उसी गाड़ी से लौटा। हैदराबाद के स्टेशन पर रात आठ साढ़े आठ का समय होगा। देखा कि एक आदमी पगड़ी, धारीदार कोट और सिलवार पहने मेरी तरफ़ इशारा करके एक दूसरे आदमी से बात कर रहा है। पिछले स्टेशन पर एक टिकट बाबू ने मेरे वाले डिब्बे में आ सरसरी तौर पर टिकट चेक किये थे। मेरा भी टिकट देखा था और प्लेटफार्म पर इस आदमी से कुछ बात की थी। उस समय सन्देह नहीं हुआ था। अब मेरा माथा ठनका। यही अनुमान किया कि पुलिस को मालूम होगा हंसराज अपने भाई ब्रह्मदेव के मकान पर है। वहाँ खुफ़िया पुलिस वाले पहरा रखे होंगे। मैं भांप नहीं सका। वहीं से मेरा पीछा किया गया है। मेरे पास सामान अधिक न था, केवल छोटा सा बिस्तर और केनवस का सूटकेस। सूटकेस में दो-तीन पुस्तकें और ज़रूरत के समय बदलने के लिये कपड़े थे। दूसरे आदमी को मुझे दिखाकर धारीदार कोट वाला व्यक्ति प्लेटफार्म के दायीं ओर चला गया। यह दूसरा व्यक्ति बालदार ऊँची टोपी पहने था। उसने एक सिगरेट जलाकर कनखियों से मुझे देखते हुए सामने एक चक्कर लगाया और गार्ड के डिब्बे की ओर एक गाड़ी के सामने खड़ा रहा। मेरा भी ध्यान उसकी ओर था। गाड़ी चलने से पहले मैं दरवाज़े में खड़ा झांक रहा था। सोचा, जो होगा देखा जायगा, इस गाड़ी से उतर जाऊँ। गाड़ी के चाल पकड़ने से पहले ही मैं दूसरी ओर उतर गया और गाड़ी से उल्टी दिशा में चलने लगा।

गाड़ी निकल गयी तो प्लेटफार्म के अंत से कुछ इधर ही वही धारीदार कोट पहने आदमी दिखाई दिया और तेज रोशनी में उसने भी मुझे देख लिया। मुझे आशंका हुई कि यह चिल्लाना ही चाहता है—पकड़ो! पकड़ो! इसलिये अपने सामने से कोट की जेब में पड़ी पिस्तौल पर हाथ रखा। उस

व्यक्ति ने यही दिखाया कि उसने मुझे देखा नहीं। प्लेटफार्म समाप्त हो जाने के बाद रोशनी कम थी। मैं जगह से बिलकुल अपरिचित था। यों ही प्राण बचाने की आशा में चल पड़ा। पीछे भी देखता जा रहा था। बीस-पच्चीस कदम जाकर देखा कि वह आदमी तेजी से मेरे पीछे चला आ रहा है। बीच में खाली लाइन थी पर दोनों तरफ गड़ियां खड़ी थीं। मैं तेजी से चलने लगा और उस आदमी के भी तेजी से चलने की आहट आने लगी। सोचा इस अनजानी जगह में मैं कहां तक चला जाऊंगा? मैं सहसा दो डिब्बों के बीच की जगह में जा खड़ा हुआ। मेरा पीछा करता आदमी और भी तेजी में उस जगह से एक कदम आगे निकल गया। दो गाड़ियों के बीच में होते ही मैंने पिस्तौल कमर से निकाल लिया था परन्तु घोड़ा नहीं खींचा था। पीछे से लपक कर मैंने पिस्तौल को ज़ोर से उसके कान और गाल पर मारा। उसकी पगड़ी गिर पड़ी और वह दोनों हाथों से सिर को थाम कर बैठ गया

कभी तर्क के लिये अवसर तो नहीं होता परन्तु आदमी क्षण भर में सूझ से ऐसा काम कर जाता है जिसमें तर्क की लम्बी शृंखला बीज रूप में समायी रहती है, जिसे इंस्टिंक्ट कहते हैं। उस समय यदि मैं उसे आगे निकल जाने देकर स्टेशन पर लौट आता तो फिर स्टेशन पर उससे सामना होता। उस समय हैदराबाद शहर का मुझे कुछ भी परिचय नहीं था। इतना ही जानता था कि स्टेशन से सब मकानों के ऊपर तिकोने से लम्बे-लम्बे रोशनदान बने दिखाई देते हैं। स्टेशन पर सामना होने पर वह क्या न करता। पहली बार ही उसने मदद के लिये दूसरों को क्यों नहीं पुकारा यही समझ नहीं सकता। अस्तु, उस आदमी के सिर थाम कर बैठते ही मैंने पिस्तौल की नली उसकी नाक पर दबाकर बहुत कड़े परन्तु दबे हुए स्वर में गाली देकर धमकाया—"अभी गोली मार दूंगा। क्यों पीछे पड़ा है।" वह कुछ बोल न सका। केवल दोनों हाथ जोड़ दिये। गोली नहीं चलायी। चलाता तो उसकी गूंज से मैं स्वयं मुसीबत में पड़ जाता। उसे फिर धमकाया—"खबरदार पीछे आया!"

इसी समय गाड़ी के दूसरी ओर से किसी व्यक्ति के पत्थरों पर चलने की आहट सुनाई दी। झुक कर गाड़ी के नीचे देखा कि एक आदमी स्टेशन की ओर से रेल के हाते की, टीन की तख्तियों की बनी बाड़ के साथ-साथ चला जा रहा है। उस आदमी ने दो-तीन तख्तियों को टटोल कर देखा। एक तख्ती ढीली थी। उसे खिसका कर वह बाहर निकल गया। मैं भी दोनों गाड़ियों के

बीच की राह से दूसरी तरफ़ निकल कर उसी जगह से बाहर चला गया । यहां सड़क पर अंधेरा था ।

परन्तु जाता कहां ? हैदराबाद में कुछ भी परिचय न था । रात का समय । अब पास मुसाफिरी का कोई सामान भी न रहा था । मेरे टिकट का स्थान और शायद नम्बर भी नोट हो चुका था । टिकट लाहौर तक का लिया था। टिकट फेंक दिया । अपना कोट उतार कर वहीं अंधेरे में ही छोड़ दिया और धोती को दोलड़ा करके तहमत की तरह बांध लिया । यह भी ख्याल आया कि ऐसी पोशाक में गुण्डा समझ कर ही न धर लिया जाऊं । सबसे बड़ी बात यह थी कि मेरा पीछा करने वाला व्यक्ति यदि फिर मुझे ढूंढने स्टेशन पर आया तो मैं किसी भी तरह नहीं बच सकूंगा । पर ऐसा विश्वास था कि वह आयेगा नहीं ।

एक कुली से सम्मासट्टा जाने वाली गाड़ी का समय पूछा । अभी एक घंटे की देर थी । मैं तीसरे दरजे के मुसाफिरखाने की भीड़ में जा बैठा । गाड़ी के आने की घंटी बजी तो सम्मासट्टा का टिकट ले गाड़ी में जाकर ऊपर की सीट पर धोती ओढ़ कर लेट गया । गाड़ी चल दी । नींद तो भला जल्दी क्या आ जाती पर बच जाने से काफी सान्त्वना अनुभव हुई ।

पहली गाड़ी से उतर कर प्रायः सवा घंटे बाद दुबारा गाड़ी में चढ़ जाने तक की बात सोचने लगा । वायसराय की स्पेशल के नीचे विस्फोट करने के बाद मैं पुलिस की प्रतीक्षा में खड़ा रहा था । लौटते समय पुलिस की गारद से सामना हो जाने पर दिल्ली स्टेशन पर भी झिझका नहीं था । इस सवा घंटे में मुझे जितना पसीना आया और जैसे दिल धड़का वैसा शायद बहुत सख्त मलेरिया का ज्वर होने पर भी न हुआ होगा । इस सवा घंटे की लड़ाई में मैं युद्ध करने या आक्रमण करने नहीं गया था बल्कि प्राण बचाने के लिये भाग रहा था । इस तरह पकड़े जाते समय लड़ने में वीरता का अवसर भी न जान पड़ रहा था । किसी उद्देश्य या संगठन के अंग के रूप में आदमी की जो स्थिति बन जाती है वह व्यक्तिगत रूप में नहीं रहती । वही प्रेरणा और साहस का भी स्रोत होती है ।

सम्मासट्टा में कोई आशंका दिखाई नहीं दी । यहाँ उतर कर लाहौर का नहीं भटिंडा का टिकट ले लिया । इस रास्ते पैसेंजर गाड़ी रेगिस्तान के बीच से धीमे-धीमे रेंगती हुई जाती है और बहुत काफ़ी समय ले लेती है ।

हैदराबाद में अपना पीछा करने वाले व्यक्ति की शक्ल बार-बार याद आ

जाती थी। यह भी ख़याल आता कि उसने स्टेशन पर मुझे फिर क्यों नहीं ढूंढ़ा। पुलिस के आदमी से इस प्रकार का प्रसंग पड़ने का पहला ही अवसर था। बाद में भी ऐसा अवसर आया बल्कि इससे भी विकट। तब यह सब जान चुका था कि पिटकर जाने के बाद पुलिस के लोग मार खा आने की बात कह कर, अफसरों के सामने अपनी अयोग्यता और कायरता प्रकट नहीं किया करते। शांति से सोचने पर अनुमान हुआ कि सम्भव है उस आदमी ने मेरा पीछा ब्रह्मदेव के मकान से न किया हो। १६२८ में जब हम लोग नौजवान भारत सभा के काम में बहुत खुलकर भाग ले रहे थे या १६२६ के जनवरी में जब मैंने और भगवती भाई ने २६ जनवरी को झण्डे की सलामी फौजी ढंग से देने की आयोजना की थी तभी से पुलिस के इस आदमी ने मुझे पहचान रखा हो। आशंका थी कि यदि हंसराज गिरफ्तार हो जाता है तो मेरा कराची जाना व्यर्थ हो जायगा।

भटिंडे की राह देहली पहुँचा तो अवस्था बुरी थी। कपड़े बहुत मैले और कई दिन की बढ़ी हुई हजामत। जब रोहतक में मैं किसना बनकर रहा था तब भी स्वरूप कुछ ऐसा ही था। परन्तु तब जान-बूझकर बनाया था और अब मजबूरी थी। झंडे वाले मुहल्ले में बम फैक्टरी का बड़ा मकान छोड़ दिया जा चुका था। देहली के इंचार्ज कैलाशपति से या भैया से मिलने का कोई ठिकाना मालूम नहीं था। प्रोफेसर नन्दकिशोर निगम के यहाँ जाकर ही कुछ पता लग सकता था। देहली तक पहुँचते-पहुँचते दुबारा टिकट खरीदने के कारण मेरी जेब में शायद छः पैसे ही बच रहे थे। स्टेशन से यमुना किनारे हिन्दू होस्टल में प्रोफेसर निगम के मकान तक जाने के लिये तांगा भी न कर सकता था। क्वार की तीखी धूप थी। पैदल ही हिन्दू कालिज के होस्टल तक गया। अवसरवश कैलाशपति साइकल पर बोर्डिंग से बाहर निकलता दिखाई दे गया। बम फैक्टरी के प्रसंग में कह चुका हूँ कि उन दिनों वह १६२८-२६ का कैलाशपति न था कि देहली के जाड़े में बिना स्वेटर के घूमता रहे और स्वेटर दे दिया जाने पर स्वयं न पहन कर दूसरे साथी को दे दे। खूब धुले कलफ़ किये साफ़ कपड़े पहने था और पोमेड-क्रीम की सुगन्ध आ रही थी। आँखों पर धूप का चश्मा। वही रूप देखकर मैं आज़ाद से कहा करता था कि ठंडी को जवानी चढ़ रही है।

अपनी उस अवस्था में मुझे उसका सिंगार और भी खला। मैं उस से बहुत तिरस्कार से बोला। वह गम्भीर बना रहा। संक्षिप्त सा उत्तर उसने दिया—

इस समय यहाँ आज़ाद या निगम कोई नहीं हैं। आज़ाद कानपुर चले गये हैं।" मैंने अपने साथ हुई घटना संक्षेप में बता कर बहुत अधिकार से उससे रुपये मांगे।

"इस समय तो नहीं हैं।"—उसने शायद मेरे तिरस्कार के प्रतिकार में उत्तर दे दिया।

पैदल देहली लौटना पड़ा। कहाँ जाता ? खयालीराम गुप्त के यहाँ जाने पर उनकी माँ बहुत शोर मचाती थीं। अजमेरी दरवाज़े महाशय कृष्ण जी के यहाँ जाना उचित नहीं था। बहावलपुर रोड के प्रसंग में यह बता ही चुका हूँ कि महाशय कृष्ण जी के मकान की तलाशी हो चुकी थी।

भूखा इधर-उधर घूम रहा था। भूख से अधिक क्लेश मन को कैलाशपति के व्यवहार से हुआ। छः पैसे पास हों तो आदमी चना-चबेना चबाकर समय काट सकता है पर भूख से अधिक चिन्ता थी कि कानपुर कैसे पहुँचूंगा। भूख भूली हुई थी। उन दिनों सिगरेट-सिगार पीने की आदत बहुत कम थी। परन्तु जाने क्या सूझा कि मैंने जामा मसजिद के पास की एक दुकान से छः पैसे में एक सिगार खरीद लिया और संध्या के अंधेरे में परेड के मैदान में बैठ कर पीने लगा। कैलाशपति पर गुस्सा इस अधिकार से था कि आपस में चाहे जितना मतभेद या लड़ाई हो हम लोग एक दूसरे की कठिनाई और खतरे की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। खैर सिगार पीने से चक्कर-सा आ गया। ज़ोर की उबकाई आने लगी। मसजिद के समीप एक नल से खाली पेट में बहुत-सा पानी पी लिया तो तबीयत और खराब हो गयी। फिर परेड में जा लेटा। तब ख़याल आया मैं बहुत भूर्खता कर रहा हूँ। मेरी कमर में पिस्तौल है यदि मुझे ऐसे लेटे देख कर ही पुलिस वाले अवारागर्दी में चालान कर दें तो ?

पच्चास वर्ष के लम्बे जीवन में मैंने बहुत कुछ देखा और अनुभव किया है परन्तु पैसा न होने के कारण भूखे रहने का दिन केवल यही एक ही बार आया। सोचा—महाशय कृष्ण जी के यहां जाना ही पड़ेगा। उठा और अजमेरी गेट की ओर चल दिया। रास्ता चावड़ी बाजार और फतेहपुरी के बीच से होकर जाता था। मैं रोशन सिनेमा के पास से गुज़र रहा था, रात के नौ या साढ़े नौ बजे होंगे। उन दिनों इस भाग में सड़क के दोनों ओर पर बहुत ही सस्ते किस्म की वेश्याओं के कोठे रहते थे। बाज़ार प्रायः सूना हो रहा था। मुझे धीमे-धीमे जाते देखकर वे शायद ग्राहक समझ दोनों ओर से पुकारने लगीं—

"अरे इधर आ, इधर आजा !" सोचा—इन्हें भी शायद मेरी ही तरह भूख लगी होगी। यदि चला जाऊं तो क्या बातचीत होगी ? यह अनुभव मेरे मन में इतना गहरा बैठ गया कि कभी भूल नहीं सकता। बाद में १६३८ में मैंने इस अनुभव की याद से एक छोटी सी कहानी "दुखी-दुखी" लिखी थी। जो प्रायः ही पाठकों को बहुत पसंद आयी है।

महाशय कृष्ण जी के यहां जाना ही पड़ा। वे घर पर ही थे। मुझे अचानक और ऐसी अवस्था में देखकर देखते ही रह गये। उनसे क्षमा सी मांगी"........ मुझे यहाँ नहीं आना चाहिये था परन्तु बहुत ही मजबूरी से आया हूँ।" उनसे कुछ साफ कपड़ों और रुपयों के लिये कहा। कृष्ण जी की आदत बहुत कुछ पूछने और जिरह करने की थी पर उस दिन उन्होंने बिना कुछ पूछे ताछे कपड़े और रुपये दे दिये। वहीं हजामत बनाकर, नहा धोकर कपड़े बदल लिये। उनके यहां जाने पर भाभी खाना तो जरूर ही खिलाती थीं।

मैं आज़ाद को ढूँढ़ने कानपुर चल दिया। भैया ने कानपुर में एक खास पता बताया था कि आवश्यकता होने पर वहाँ ठहर भी सकता हूँ। लगभग संध्या समय कानपुर पहुँचा था। चुन्नीगंज गया। वहाँ गुलजारीलाल का मकान ढूँढ़ा। गुलजारीलाल इकहरे बदन के लम्बे से आदमी थे। रंग गेहुआं और लम्बी-लम्बी मूँछें। यह याद नहीं कि मैंने किस नाम से आज़ाद का पता पूछा पर वे समझ गये। बहुत भावुकता और गहराई से मेरी ओर पल भर देखा और बोले—"हाँ ठीक है, बैठिये।"

एक कोठरी और आँगन का मकान था। वे अकेले ही रहते थे। गुलजारीलाल ने मुझसे बात नहीं की। खाट पर कपड़ा बिछा कर बैठा दिया और स्वयं तुरन्त आँगन में बने चौके में बैठकर एक कटहल काटने लगे। मैंने भैया तक संदेश पहुँचाने की बात याद दिलाई। गुलजारीलाल बोले—"पहले आप खाना खा लीजिये।" जल्दी खाने की आवश्यकता न होने और तकल्लुफ़ न करने की बात कही। पर वे नहीं माने। कटहल काट कर उन्होंने चूल्हे पर चढ़ा दिया। आटा गूंधने लगे। उन्हें आटा पूरियों के लिये कड़ा गूंधते देखा फिर कष्ट न करने का अनुरोध किया परन्तु वे नहीं माने। खूब याद है, कढ़ाई नहीं थी उन्होंने गहरे तवे पर खूब घी छोड़कर पूरियाँ तलीं। और फिर मुझे बहुत श्रद्धा से आसन पर बैठाकर खाना खिलाया। उससे पहले यू०पी० में रहने का अवसर नहीं हुआ था। कटहल की तरकारी उस दिन पहली बार ही खायी थी या उससे पहले की बात याद नहीं। मैं जब भी कटहल की

तरकारी देखता हूँ, मुझे गुलजारीलाल की रसोई याद आ जाती है। खाने के बाद मेरे जिद करने पर भी उन्होंने मुझे थाली नहीं धोने दी।

खाना खिलाकर वे भैया को खबर देने गये। भैया साढ़े नौ दस तक आ गये। हम दोनों बात करने लगे तो गुलजारीलाल स्वयं ही परे जाकर बैठ गये। गुलजारीलाल कानपुर म्युनिसिपैलिटी की छिड़काव करने वाली मोटर के ड्राइवर थे। इसके बाद एक ही बार और उनसे मुलाकात हुई। उनकी पहली मुलाकात की स्मृति मस्तिष्क पर इतनी गहरी है कि पच्चीस वर्ष बाद भी उन का चेहरा याद है। भैया के ऐसे कई निजी विश्वस्त लोग थे। कराची में हंसराज के वायदे का और फिर रास्ते की दुर्घटना का पूरा हाल भैया को बताया। यदि हंसराज गिरफ्तार हो गया होता तो अब तक तो पत्रों में समाचार आ ही जाना चाहिये था फिर भी हम लोग उसका समाचार जानने के लिये कई दिन तक नित्य सुबह अखबार की प्रतीक्षा करते रहते।

अक्टूबर के अंत में २९-३० तारीख होगी, दिल्ली में पिछली रात संध्या समय कैलाशपति के गिरफ्तार हो जाने का समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ। उन दिनों कैलाशपति दिल्ली में कोई विशेष काम नहीं कर रहा था। हाँ, भैया को उसने अजमेर में एक मनी एक्शन (रुपये के लिये डकैती) की सम्भावना बतायी थी, जिसके लिये वह एक दो बार वहाँ गया भी था और मदनगोपाल को वहां देखभाल के लिये छोड़ आया था। दिल्ली में उसके विशेष आर्थिक कठिनाई में होने का भी कारण नहीं था। कैलाशपति की गिरफ्तारी चूड़ी वालों के बाजार में अपने मकान की गली में ही हुई थी। गिरफ्तारी के समय उसके पास रिवाल्वर भी था परन्तु उसने अपने बचाव का या पकड़ने वालों पर चोट करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। यह समाचार सुनकर आज़ाद ने बड़ी निराशा से कहा—"यह साले ठंडो भी गये।"

कैलाशपति की गिरफ्तारी के समय उसके चुपचाप गिरफ्तार हो जाने से तो निराशा हुई ही थी परन्तु मैंने भैया से यह भी कहा कि मुझे तो उसके मुखबिर बन जाने की भी आशंका है। भैया को ऐसा लगा कि यह मैं कैलाशपति के प्रति व्यक्तिगत विरक्ति के कारण कह रहा हूँ। मैंने अपनी बात स्पष्ट करके कहा कि [illegible] गिरफ्तार हो गया होता तो मुझे ऐसी आशं[illegible]। उसमें मुझे एक ग्लानि उत्पन्न करने वाली सिलसिला सी दिखाई देती रही थी। आज़ाद इसे क्या समझते? कैलाशप[illegible] तो भैया से दिल्ली [illegible] फैक्टरी के दिनों [illegible]

विलासिता और फिजूल खर्ची की शिकायत की थी। यह चर्चा में पहले भी कर चुका हूँ। वह विलासिता थी, लगातार आठ दस घण्टे पिक्रिक एसिड बनाते समय, उसकी विषैली गैस से सिर दर्द हो जाने पर घण्टे भर खुले टांगे में घूम लेना और फिर किसी रेस्टोरां में जाकर आइसक्रीम खा लेना। वास्तव में विलासिता किसी वस्तु या व्यवहार में नहीं दृष्टिकोण में ही होती है।

बहुत ही जल्दी, पांचवें ही दिन दिल्ली में धन्वन्तरी की भी गिरफ़तारी का समाचार मिला। पत्र में समाचार था कि धन्वन्तरी अपने एक साथी के साथ टांगे पर बैठा चांदनी चौक से जा रहा था। पुलिस उसे पहचान कर पीछा करती आ रही थी। अपने लिये उपयुक्त स्थान देखकर पुलिस ने उसे घेर लिया और पकड़ो-पकड़ो का शोर मचा दिया। धन्वन्तरी ने रिवाल्वर निकाल कर पुलिस पर गोली चलायी। पुलिस के आदमी को चोट भी आयी। वह दस-पांच कदम भागा भी परन्तु पकड़ो-पकड़ो के शोर से चांदनी चौक में लाठी लेकर गश्त करते रहने वाले एक सिपाही ने उसे भागते देख कर उस पर लाठी का भरपूर वार कर दिया। धन्वन्तरी गिर कर पुलिस के काबू आ गया। उसके साथ का दूसरा आदमी था सुखदेवराज। वह भाग गया। सुखदेवराज ने भी यदि पुलिस पर गोली चलायी होती, दोनों साथ मिलकर लड़े होते तो क्या होता, यह उस समय हमें खयाल नहीं आया। उस समय तक साथी को छोड़ अपने प्राण बचाने के लिये भाग जाने की यह सुखदेवराज की दूसरी ही हरकत थी।

कैलाशपति की गिरफ्तारी के सप्ताह भर में बाबूराम साबुनी, खयालीराम गुप्त, गिरवरसिंह, विमल आदि की गिरफ्तारियां शुरू हो गयीं। दिल्ली में तो हम लोगों के लिये स्थिति खतरनाक हो गई दूसरी जगह भी इसका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ रहा था। आजाद ने मुझे परामर्श दिया कि मैं कानपुर आकर ही रहूँ और अपनी स्वतंत्र जगह बना लें तो अच्छा हो। कानपुर में उस समय तक मेरे अपने कोई सूत्र नहीं थे। भैया ने कुछ दिन के लिये मुंशीराम जी शर्मा, 'सोम' के यहां मेरे और प्रकाशवती के लिये प्रबन्ध कर दिया। मुंशीराम जी उन दिनों कानपुर में गंगा किनारे परमट घाट पर रहते थे और डी० ए० वी० कालेज में हिन्दी के अध्यापक थे। अब भी वे डी० ए० वी० कालेज में ही हैं। सब ओर धड़ाधड़ गिरफ्तारियां होते समय मुंशीराम जी ने खूब जान बूझ कर हमें शरण दी कि हम लोग कौन हैं और इस का क्या परिणाम हो सकता है।

मुंशीराम जी का मकान परमट घाट के सिरे पर ठीक सड़क पर ही था इसलिये मैं दूसरा प्रबन्ध करने की चिंता में था। कानपुर के गवरमेंट लेदर वर्किंग स्कूल का पता लेकर चौधरी रामधनसिंह से मिलने पहुँचा। रामधन बोर्डिंग में रहते थे परन्तु हमारी सहायता करने के लिये उन्होंने दो ही दिन में चुन्नीगंज के हाते में दूसरी मंजिल पर एक मकान ढूंढ लिया और हम लोग वहां चले गये।

कैलाशपति के गिरफ्तार हो जाने से अजमेर में डकैती नहीं हो सकी। आज़ाद ने कई दिन बल्कि दो, तीन मास से वीरभद्र को आर्थिक समस्या का उपाय करने के लिये एक डकैती की व्यवस्था करने की जिम्मेवारी सौंपी हुई थी। आर्थिक कठिनाई हम लोगों को बनी ही रहती थी। व्यापक सार्वजनिक आधार न होने के कारण कांग्रेस या कम्युनिस्ट पार्टी की तरह धन संग्रह किया नहीं जा सकता था। राष्ट्रीय भावना रखने वाले ऐसे लोग जो १००) २००) दे सकने की स्थिति में थे उन पर, गांधी जी के हमें भटके हुए देशभक्त बता देने का काफ़ी प्रभाव था। ऐसे लोग हमें जांबाज़ देशभक्त समझ कर हमारे दर्शन तो करना चाहते थे परन्तु हमें आर्थिक सहायता देना उचित नहीं समझते थे। इसमें खतरा तो था ही तिस पर गांधी जी क्रान्तिकारियों को सहायता देने का विरोध करते थे। ऐसे लोग सहायता देते समय हमारी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को ही ध्यान में रखते थे। वे देशभक्तों की सहायता तो करना चाहते थे परन्तु सशस्त्र क्रान्तिकारी आंदोलन की नहीं। ऐसी मनोवृत्ति का बहुत अच्छा उदाहरण बाबू (राजर्षि) पुरुषोत्तमदास जी टंडन का व्यवहार था। बात तो साडंर्स बध के बाद दिसम्बर १६२८ की है।

साडंर्स के बध के बाद दल के लोगों को लाहौर से निकाल ले जाने आदि के लिये रुपये की ज़रूरत थी, पुरुषोत्तमदास जी टंडन उन दिनों पंजाब नेशनल बैंक, लाहौर के मैनेजर थे। वेतन शायद ८००) मासिक था जो रुपये के उस समय के मूल्य के विचार से आज तीन-साढ़े तीन हज़ार रुपया होना चाहिये। टंडन जी लाला लाजपतराय जी की कोठी के बगल की कोठी में एक ही हाते में रहते थे। उसी हाते में द्वारकादास पुस्तकालय था। कानपुर के प्रसिद्ध मजदूर नेता राजाराम जी शास्त्री द्वारकादास पुस्तकालय के लाइब्रेरियन थे। आज़ाद और शास्त्री जी का बनारस से पुराना परिचय था। शास्त्री जी भगतसिंह, सुखदेव मुझे और बहुत से लोगों को भी जानते थे। आज़ाद ने शास्त्री जी से कह कर टंडन जी से मिलने का समय नियत कर लिया था।

टंडन जी ने कोई भय या झिझक नहीं प्रकट की। आज़ाद आये तो उन पीठ पर हाथ फेर कर कहा—"तुम्हारे ढंग और सिद्धान्त का समर्थन तो नहीं कर सकते परन्तु तुम देशभक्त और शूरवीर ज़रूर हो।"

आज़ाद के लिये किसी से कुछ मांगना बहुत ही कठिन काम था। फि भी विवश हो आर्थिक सहायता की बात कही! टंडन जी ने उसमें भी संकोच नहीं किया। तुरन्त बिटिया को बुलाया और दस रुपया ला देने के लिये कह दिया। यह तो हो ही नहीं सकता था कि ऐसी परिस्थिति में आज़ाद की आंखों में सुर्ख डोरे न फिर गये हों। इस घटना की चर्चा करते समय ही उन्हें क्रोध आ जाता था। पर टंडन जी के प्रति आदर और शिष्टाचार के कारण ग़म खा जाने के अतिरिक्त और चारा क्या था? इस उल्लेख का अभिप्राय यह है कि टंडन जी का जैसा त्याग का जीवन रहा है, कृपणता की बात सोची नहीं जा सकती। उस समय वे काफी समर्थ भी थे। उनके विचार में आज़ाद की आवश्यकता इससे अधिक और क्या होती? ऐसे ही अनुभवों के कारण आज़ाद या हम लोग राजनैतिक डकैती के लिये विवश हो जाते थे।

खासकर १९३० के अंत में, लंदन में गोलमेज़ कान्फ्रेंस द्वारा सरकार से समझौते की बात चल रही थी। अंग्रेज सरकार ने गोलमेज़ कान्फ्रेंस में कांग्रेस को भी निमंत्रण दिया था और खयाल था कि इस बातचीत से संतोषजनक स्वराज्य की रूपरेखा निकल आयेगी। ऐसी अवस्था में कांग्रेसी राष्ट्रीय भावना रखने वाले लोग क्रान्तिकारियों को सहायता देकर व्यर्थ का व्याघात खड़ा करने में क्यों सहयोग देते?

कानपुर में धन कार्य

दल विकट आर्थिक कठिनाई में था। आज़ाद बार-बार वीरभद्र से ही 'मनी ऐक्शन' (धन कार्य) का प्रबंध करने के लिये कह रहे थे। हम लोग डकैती शब्द पसन्द नहीं करते थे। मजबूरी हो जाने पर धन के लिये जबरदस्ती करनी पड़ती तो उसे मनी ऐक्शन या धन कार्य ही कहते थे। इस काम का बोझ वीरभद्र पर डालने का एक कारण यह भी था कि आज़ाद आज़माना चाहते थे कि वीरभद्र जान बचाने की ही फ़िक्र में तो नहीं। मेरे मामले में तो उन्हें वीरभद्र पर संदेह था ही; वीरभद्र जिम्मेदारी डाली जाने पर हामी तो भर लेता परन्तु ठीक समय आने पर कोई अलंघ्य बाधा बताकर टाल जाता या पुलिस उसे कांग्रेस के मामले में गिरफ्तार कर हवालात पहुँचा देती और वह कुछ दिन बाद

छूट आता। यह निश्चय हो जाने पर कि वीरभद्र सचमुच दल को धोखा दे
रहा है, आज़ाद उसे दण्ड देना चाहते थे। ऐसा ही सन्देह दल के एक और
पुराने साथी सतगुरुदयाल अवस्थी के प्रति भी उन्हें हो रहा था। शायद पिछले
उदाहरण के कारण इस बार आज़ाद इन लोगों को अपनी सफ़ाई का अव
सर जरूर देना चाहते थे। इस समय लाहौर षड़यंत्र का फैसला सुना दिय
गया था। भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को फांसी का दण्ड सुनाया गय
था पर दो एक आदमी बरी भी हो गये थे। इनमें कानपुर के सुरेन्द्र पांडे भ
थे। सुरेन्द्र पांडे लौट कर आजाद से मिले और फिर दल का काम करने क
इच्छा प्रकट की। सुरेन्द्र पांडे उत्तर प्रदेश, खासकर कानपुर में दल का काम
आरम्भ होने के समय से साथ थे। इसके इलावा डेढ़ बरस सब साथियों के साथ
जेल में सामूहिक अध्ययन और विचार करके लौटे थे। उनका सहयोग औ
सहारा उस समय दल के लिये उपयोगी जान पड़ा।

आज़ाद ने वीरभद्र तिवारी और सतगुरुदयाल अवस्थी दोनों को ही संदेश
भेजा कि वे आकर अपने व्यवहार की सफ़ाई दें। इस समय कोई केन्द्रीय समिति
तो थी नहीं। सम्भवतः सुरेन्द्र और आज़ाद के ही सामने यह बात हुई होगी
आज़ाद के संदेश के उत्तर में अवस्थी ने पत्र लिखकर उत्तर दिया कि उस प
किये गये सन्देह झूठे और निराधार हैं पर मिलने नहीं आया। वीरभद्र स्वय
आया। आज़ाद ने उससे मुझे भेद मिलने के मामले में भी प्रश्न किया। मैंने
तो इस विषय में कभी उसका नाम नहीं लिया था परन्तु वह नेकनीयती से
भेद दे देने की बात कबूल गया। दूसरे अवसरों पर जान बचाने के लि
शिथिलता दिखाने के आरोप के उत्तर में उसने विश्वास दिलाया कि भविष्
में ऐसी शिकायत का मौक़ा नहीं आयगा।

वीरभद्र ने कानपुर, नयागंज में जहां दालमण्डी है, चमड़े के एक व्यापा
खोजे की गद्दी पर धन कार्य की योजना बनायी। बताया कि उस व्यापारी के यह
तिजोरी में ४०-५० हज़ार से लेकर लाख तक नकद रहता है। इस काम के लि
दिन और सूर्यास्त का समय भी निश्चित हो गया। आज़ाद ने वीरभद्र को चेता
वनी दी—"देखो ठीक समय पर कोई अड़ंगा न बता देना या जेल में न फिसल
जाना।" फिर वही बात हुई। निश्चित दिन वीरभद्र फिर गिरफ्तार हो गया

आज़ाद ने निश्चय कर लिया था कि इस बार काम रुकेगा नहीं। जग
देख ली गयी थी। प्रबन्ध किया गया था कि वीरभद्र न हो तो भी का
न रुके। आज़ाद निश्चित समय साथियों को गाड़ियों पर लेकर खोजे के या

पहुँच गये। तीनों साइकलें नीचे जीने के दरवाज़े पर छोड़ दीं और दो साथी पिस्तौल लिये नीचे रहे कि इस बीच ऊपर कोई न जा पावे। ऊपर आज़ाद, सुरेन्द्र पांडे और शालिग्राम को लेकर गये।

गद्दी पर तोंदियल खोजे के अतिरिक्त दो मुनीम थे। आज़ाद ने पिस्तौल दिखाकर तिजोरी की चाबी माँगी। मालिक ने चिल्लाने के लिये मुँह खोल लम्बी साँस भरी। आज़ाद का थप्पड़ उसके फूले हुए गाल पर कुछ ज़ोर से ही पड़ गया और डाँट कर उन्होंने कहा—"चुप्प"! पुकार की चिल्लाहट खोजे के गले में ही रह गयी और मुँह भी खुला ही रह गया।

मुनीमों ने सामने तीन पिस्तौल देखकर तिजोरी की चाबी तुरन्त निकाल दी। तिजोरी खोल कर जो कुछ था एक थैले में समेट लिया गया। मुनीम शांत रहे। चलते समय टेलीफोन तोड़ दिया गया। सब कांड समाप्त हो जाने पर भी खोजा मालिक की बल पड़ी हुई तोंद पर रखे गोल-गोल चेहरे का मुँह खुला ही रहा और वह वैसे ही निश्चल बना रहा। आशंका हुई बेहोश हो गया होगा पर दूसरे दिन समाचार पत्रों से पता चला कि फिर उनके होश लौटे ही नहीं। इस कांड की निराशाजनक बात यह रही कि अपनी जगह लौट आने पर थैले में से कुल ग्यारह सौ रुपया ही निकला। भैया को तो इस बात के लिये भी वीरभद्र पर ही क्रोध आया कि क्या व्यर्थ जगह उसने इस काम के लिये बता दी थी परन्तु समाचार पत्रों का भी कहना था कि संयोगवश उसी दिन दोपहर बाद खोजे ने लगभग एक लाख रुपया बैंक भिजवा दिया था। अखबारों की टीका-टिप्पणी में इस काम का बहुत ही दुस्साहस और चातुर्य-पूर्ण बताया गया था क्योंकि खोजे की गद्दी के पिछवाड़े कुछ ही कदम पर उस समय नई सड़क पर बड़ी कोतवाली थी और नयागंज में तीन मकानों के बाद एक छोटी पुलिस चौकी थी। जो भी हो इस घटना से भैया को विश्वास हो गया कि वीरभद्र दल को धोखा देता है।

शहीद शालिग्राम

कैलाशपति की गिरफ्तारी के बाद भी आज़ाद दिल्ली को बिलकुल छोड़ देने के लिये तैयार नहीं थे। उन्होंने दिल्ली से प्रोफेसर नन्दकिशोर निगम को सलाह करने के लिये बुलाया था। ऐसी बातचीत के समय आज़ाद किसी समझ-दार आदमी को साथ रखते ही थे। इन दिनों सुरेन्द्र पांडे से ही अधिक परामर्श किया करते थे। सुरेन्द्र पांडे पुलिस की नजरों से बचे रहने के लिये अपना

मकान छोड़ कानपुर में गंगा के किनारे ऊपर की ओर नवाबगंज में एक बगिया में किराये पर लिये हुए छोटे से मकान में शालिग्राम शुक्ल के साथ रहते थे।

शालिग्राम शुक्ल उससे पहले कुछ दिन यूथगार्ड में खूब भाग लेता रहा था। कानपुर में यूथगार्ड ऐसा ही संगठन था जैसा लाहौर में नौजवान भारत सभा थी। यूथगार्ड के लोग वर्दी पहन कर कवायद वगैरा भी करते थे और राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेते थे। किसी एक अवसर पर पुलिस वालों के हस्तक्षेप करने पर शुक्ल और उसके एक साथी ने पुलिस वालों को पीट दिया था। पुलिस शुक्ल को गिरफ्तार करना चाहती थी। शुक्ल दल के छोटे-मोटे कामों में पहले भी सहयोग देता ही था। अब वह पुलिस की नज़रों से बच कर बिलकुल दल का ही काम करने लग गया था और नवाबगंज में पांडे के साथ ही रहता था।

आज़ाद ने निगम और पांडे से मिलने का समय तड़के छः बजे और स्थान ग्रीन पार्क में डी० ए० वी० कालिज के सामने नियत किया था। पांडे को निश्चित स्थान पर ले आने का काम शालिग्राम शुक्ल के ही जिम्मे था। घड़ी इन लोगों के पास नहीं थी। समय से पिछड़ न जाने के ख्याल से यह लोग काफ़ी तड़के, अंधेरा रहते चल दिये थे। ग्वालटोली की हालत उन दिनों काफ़ी खराब थी। सड़क पर खूब गहरे खांचे पड़े रहते थे। पांडे और शुक्ल साइकलों पर आ रहे थे। एक गहरे खांचे में पांडे की साइकल का अगला पहिया पड़ने से ज़ोर का झटका लगा। हैंडल पर रखा साइकल का पम्प गिर कर पहिये की सीखों में अड़ गया। कई सीखें टूट गयीं और पहिया टेढ़ा हो गया। यह लोग ग्रीन पार्क तक पैदल ही पहुँचे।

यह लोग ग्रीन पार्क पहुँचे तो अभी छः बजने में काफ़ी समय जान पड़ा। शालिग्राम ने पांडे से कहा—"हो सकता है कहीं आगे भी जाना पड़े। डी०ए० वी० कालिज के बोर्डिंग में जान पहचान वाले लड़के हैं। तुम यहां ही ठहरो। मैं टूटी साइकल बदलवा लाता हूँ।" शुक्ल पांडे को ग्रीन पार्क के परमट की ओर के कोने पर छोड़ कर स्वयं टूटी साइकल ले बोर्डिंग के दरवाजे की ओर चल दिया। शुक्ल कालिज की इमारत के अंत में बोर्डिंग के फाटक के पास पहुँचा ही था कि पांडे को उस ओर से बिजली की टार्च से फेंकी रोशनी दिखाई दी और फिर शुक्ल को पुकार सुनाई दी—"Beware ! Beware !" (सावधान ! सावधान !) इसी समय एक पिस्तौल की गोली चली और फिर तुरंत ही राइफल की गूंज सुनाई दी।

हुआ यह कि बोर्डिंग के फाटक के सामने ग्रीन पार्क के कोने पर आग्ज़िलियरी फोर्स का दफ्तर था जहां सशस्त्र गोरा सिपाही पहरे पर तैनात रहता था। जिस समय शुक्ल यहां पहुँचा, जाने किस कारण खुफ़िया पुलिस का इंस्पेक्टर शम्भुनाथ दो-तीन सिपाहियों के साथ मौजूद था। इन लोगों ने शुक्ल पर रोशनी फेंक कर उसे पहचान लिया। इंस्पेक्टर उसे पकड़ना चाहता था। शुक्ल ने आगे भाग जाने की कोशिश की पर साइकल टूटी होने के कारण विवश था। हाथा-पाई हुई। एक कांस्टेबल या इंस्पेक्टर ने छोटा डंडा शालिग्राम के सिर में मार दिया। इसी समय शालिग्राम ने पुकार कर चेतावनी दी थी क्योंकि एक ओर पांडे था और दूसरी ओर से आज़ाद के आने की भी आशा थी। घिर जाने पर शुक्ल ने जेब से पिस्तौल निकाल कर सामना किया। उसकी गोली एक सिपाही की जांघ में लगी। इंस्पेक्टर और तीनों सिपाही शरण के लिये आग्ज़िलियरी फोर्स के दफ्तर में घुस गये। शुक्ल साइकल छोड़ भागने लगा। यह देख कर ड्यूटी पर खड़े गोरे सिपाही ने शुक्ल की पीठ में राइफल से गोली मार दी। शुक्ल सड़क पर गिर पड़ा।

आग्ज़िलियरी फोर्स के दफ्तर में जाकर इंस्पेक्टर ने फिर बाहर आने से पहले कोतवाली को फ़ोन कर और सहायता के लिये दूसरे सशस्त्र सिपाहियों को बुला लिया। इस काम में दस पन्द्रह मिनिट लगे ही होंगे। शुक्ल पीठ में राइफल की गोली से घायल होकर आग्ज़िलियरी फोर्स के दफ्तर के सामने पड़ा था। एक ओर उसकी साइकल पड़ी थी। इसी बीच आज़ाद साइकल पर उस स्थान से ग्रीन पार्क के परमट की ओर वाले कोने पर पहुँचने के लिये गुजरे। उन्होंने एक ज़ख्मी नौजवान और साइकल सड़क पर इधर-उधर पड़ी हुई तो देखी पर यह अनुमान न कर सके कि कोई अपना आदमी होगा। ग्रीन पार्क के कोने पर किसी को न पाकर वे परमट घाट पर पंडित मुंशीराम जी के मकान पर पहुँचे। सुरेन्द्र पांडे शुक्ल की सावधानी की ललकार और बाद में पिस्तौल और राइफल की आवाज़ सुनकर अपनी जगह पर खड़े रहना व्यर्थ और आपद्‌जनक समझ वहां से मुंशीराम जी के यहां चला गया था। पांडे से सुनकर आज़ाद को मालूम हुआ कि आग्ज़िलियरी फोर्स के दरवाज़े पर गिरा पड़ा आदमी शालिग्राम शुक्ल ही था। आज़ाद और पांडे का अनुमान था कि शुक्ल राइफल की गोली से मारा गया है। खैर अब क्या हो सकता था........

इनके बात करते-करते फिर बोर्डिंग के फाटक की ओर से गोलियां चलने और चिल्लाने की आवाज़ें सुनाई दीं और बिलकुल सन्नाटा छा गया। जिस

शहीद शालिग्राम शुक्ल

जेल में शहीद मणीन्द्रनाथ बैनर्जी
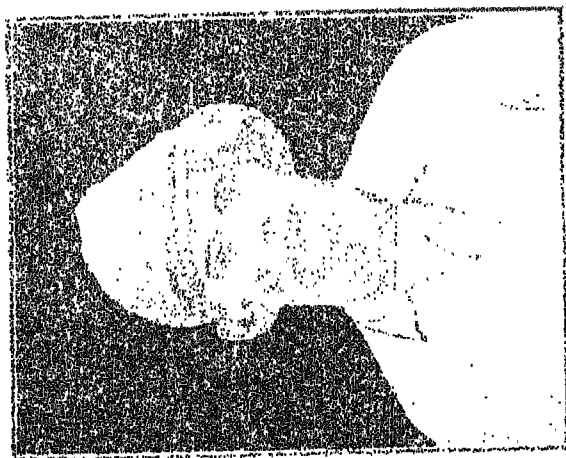
समय आज़ाद बोर्डिंग के फाटक के सामने से गुज़रे थे शालिग्राम घायल तो था परन्तु मरा नहीं था। उसने आज़ाद को जाते भी देखा होगा परन्तु उसने सहायता के लिये चिल्लाया या पुकारा नहीं। दम साधे रहा कि आज़ाद के प्रति किसी को सन्देह न हो। लेकिन चार पांच मिनिट बाद जब सशस्त्र सिपाहियों के आ जाने पर पुलिस उसे मरा समझ कर उठाने के लिये समीप आई तो उसने फिर तीन चार गोलियां चलायीं और दो और सिपाहियों को घायल कर दिया। सिपाही चिल्लाकर पीछे हट गये और कुछ दूर से उस पर गोलियां चलाने लगे। उसके बिलकुल निश्चल हो जाने पर ही पुलिस उसे एक लारी में उठा ले गयी। शालिग्राम शुक्ल का नाम किसी षड्यंत्र केस में नहीं आया, कभी उसके नाम की जय नहीं पुकारी गयी परन्तु धैर्य और वीरता में वह हमारे किसी भी वीर से कम नहीं था।

बराल में प्रकाशवती को आराम और सुविधा तो सब थी परन्तु संतोष नहीं था। वे काम में सहयोग देने के लिये हम लोगों के साथ ही रहना चाहती थीं। मैं एक सुरक्षित स्थान जमाने की चिंता में था। कुछ साथी इलाहाबाद में रहते थे। उन लोगों से सलाह मशविरा करने भैया के साथ इलाहाबाद गया था। इलाहाबाद में अचानक बलदेव जी चौबे से मुलाकात हो गयी।

चौबे जी से परिचय लाहौर से ही था। वे लाला लाजपतराय जी के लोक-सेवक मंडल (सर्वेन्टस आफ पीपुल्स सोसायटी) के सदस्य थे। आजीवन देशसेवा का व्रत लिये हुए। परम गांधीवादी और बाबू पुरुषोत्तमदास जी टंडन के अनुयायी।

चौबे जी इलाहाबाद में गंगापार, टंडन जी के निर्देश में, हिन्दी विद्यापीठ चला रहे थे। यहां ग्रामीण विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा और भोजन दिया जाता था। विद्यापीठ किसी प्राचीन मन्दिर और उसके साथ बने पक्के मकान में थी। आसपास मील डेढ़ मील तक कोई बस्ती नहीं, घोर सुनसान। चौबे जी आत्मीयता से मिले। मेरे फरार होने या मुकद्दमे की बाबत वे सब कुछ जानते थे। उनसे पूछा—"यदि कभी ज़रूरत पड़ जाय तो आपके यहां शरण मिल सकेगी ?" "अरे वाह"—चौबे जी ने उत्तर दिया—"घर तुम्हारा है ! हमसे जो बन पड़े। तुम जान दे रहे हो अपनी.......!"

यह बात इसलिये कह रहा हूँ कि यद्यपि गांधी जी क्रान्तिकारियों की घोर निन्दा करते रहते थे परन्तु गांधीवादियों के मन में, गांधी जी द्वारा हम लोगों के कामों की निन्दा के बावजूद, हम लोगों के प्रति श्रद्धा हो एक अनुराग और

आदर पाया। इलाहाबाद, मेरठ, दिल्ली और लाहौर के गांधी आश्रम या खद्दर भंडार हम लोगों के संदेश भेजने और पाने के नियमित अड्डे थे। उत्तर प्रान्त में विशेषकर बैनर्जी बंधुओं के सहयोग के कारण। लाहौर के खद्दर भंडार में हमारा कालिज का सहपाठी जसवंतसिंह ही था। जसवंतसिंह को प्रायः ही हम लोगों की गतिविधि मालूम रहती थी। पूर्णरूप से वह हम लोगों में जो नहीं मिल गया उसका कारण यही था कि उसकी दृष्टि में हम लोग काफ़ी चतुर और बुद्धिमान नहीं थे, परन्तु सहायता उससे मिलती ही रहती थी।

अस्तु, मैं और प्रकाशवती कुछ दिन के लिये चौबे जी की विद्यापीठ में जा टिके। जाड़े के दिन थे इसलिये पुराने ढंग की मोटी दीवार और बिना रोशनदान की कोठड़ी में सोने में भी परेशानी नहीं होती थी। विद्यापीठ क्योंकि दान के रूप में चल रही थी इसलिये विद्यार्थियों को प्रायः ही बाजरे का दलिया या बाजरे की रोटी और एक दाल या साग खाने के लिये मिलता था। चौबे जी स्वयं और उनकी दस-बारह वर्ष की पुत्री माधवी भी यही खाते थे परन्तु हम दोनों के लिये चौबे जी कुछ मेवे और फल ले आते थे। इससे कुछ संकोच अनुभव होता ही था।

मैं प्रायः ही इलाहाबाद में साथियों से मिलने-जुलने के चक्कर में रात नौ दस बजे लौटता था। उस समय यमुना में नाव नहीं मिल सकती थी इसलिये यमुना के पुल से होकर आने में तीन-साढ़े तीन मील का चक्कर पड़ जाता था। साइकल थी इसलिये कोई कष्ट नहीं जान पड़ता था। एक रात मैं लौटा तो समीप की बस्ती से भय और आशंका का हल्ला सुनाई दे रहा था, जैसे डाका पड़ रहा हो। घर पहुँच कर चौबे जी को बहुत परेशान पाया। कारण यह था कि पड़ोस के किसी गांव में एक भैंसा पागल हो गया था और सड़क पर आते-जाते लोगों पर आक्रमण कर रहा था। चौबे जी को भय था कि कहीं मैं अंधेरे में भैंसे की झपट में न आ जाऊँ। यों भी सभी आशंकित थे। मैंने सुझाया कि ऐसी बात है तो भैंसे को गोली मार देनी चाहिये।

चौबे जी ने सोच कर कहा—"पागल भैंसे को गोली मारने जाने में भी तो खतरा है।" मैंने स्वीकार किया—"ख़तरा तो ज़रूर है पर यों भी तो बीसियों जानों को ख़तरा है।" भैंसा दो चार झोंपड़ियाँ गिरा भी चुका था। भैंसे को गोली मारने जाने पर लोगों का ध्यान आकर्षित करने की आशंका तो थी पर उस समय यह कर्तव्य जान पड़ा। चौबे जी से बात की—"मेरे पास पिस्तौल तो है परन्तु पिस्तौल से गोली मारने के लिये भैंसे के बहुत समीप जाना

पड़ेगा और पिस्तौल की गोली भैंसे का क्या बिगाड़ेगी ? मामूली सा घाव हो जायगा और भैंसा और बिगड़ेगा !"

"बन्दूक तो है पर बहुत दिन से ऐसे ही रखी है"—बहुत सोचकर चौबे जी ने उत्तर दिया। मैंने आग्रह किया—"कहां है, देखें तो ! कारतूस भी हैं ?" चौबे जी ने उत्तर दिया—"भाई यह सब क्या होता है सो मालूम नहीं ! देख लो !"

चौबे जी दिया लेकर एक अंधेरी कोठड़ी से लाल कपड़े की लम्बी थैली में बंद बंदूक उठा लाये। उसे खोलकर देखा तो जंगाल लगी एक नाली की गज से बारूद भरने वाली बंदूक थी। शायद मरहठों के ज़माने की। गोली बारूद कुछ नहीं। साथ भरने का गज जरूर था। मन में बहुत खेद हुआ। यह थी अंग्रेजी राज की नीति। अपने प्रति विद्रोह हो सकने की कोई भी सम्भावना न रहने देने के लिये उस सरकार ने इस देश के लोगों को कितना निस्सहाय बना दिया था और गांधी जी राष्ट्र की उसी निस्सहाय अवस्था को आत्मिक शक्ति का नाम दे रहे थे। चौबे जी से यही बात कह कर मैंने यह भी कहा—"तो फिर चौबे जी, अहिंसा के आत्मिक बल से ही उस भैंसे का हृदय परिवर्तन किया जाये !" चौबे जी ने मेरी विश्वास की शक्ति की न्यूनता के प्रति दुख से एक गहरी सांस ले उत्तर दिया—"भाई विश्वास की बात है।"

लैमिंगटन रोड गोलीकांड

प्रथम लाहौर षड्यंत्र का मामला पंजाब के गवर्नर की आज्ञा से एक विशेष अदालत को सौंप दिया गया था। अभिप्राय था कि छोटी अदालत और सेशन अदालत की कार्रवाई में अधिक समय न लगे। इस विशेष अदालत को सेशन अदालत के अधिकार अर्थात् फांसी तक की सज़ा देने तक का अधिकार दे दिया गया था। इस अदालत ने १६३० अक्टूबर मास के अन्त में भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को फांसी की और शेष बहुत से साथियों बटुकेश्वरदत्त, शिव वर्मा, जयदेव कपूर, महावीरसिंह आदि को आजन्म काले पानी की सज़ा सुना दी थी। हम लोग इस अवसर पर कुछ विरोध प्रकट करना चाहते थे परन्तु पंजाब में दूसरे षड्यंत्र के साथियों के भी गिरफ्तार हो जाने पर स्थिति बहुत कमज़ोर थी। वही बात उत्तर प्रदेश में भी थी। आज़ाद का विचार था पंजाब और उत्तर प्रदेश में पुलिस के बहुत चौकस हो जाने के कारण दक्षिण में ही कुछ क्यों न किया जाये। उससे आन्दोलन की व्यापकता भी बढ़ेगी।

गदर पार्टी के समय के एक बहुत पुराने क्रांतिकारी साथी पृथ्वीसिंह आजन्म कारावास की सज़ा पाये मद्रास जेल में थे। उन्हें अमरावती जेल में बदला जा रहा था। लगभग अमानुषिक साहस से वे बेड़ियां पहने ही चलती गाड़ी से कूद गये थे। कूद कर बच गये थे और बरसों से भेस बदले गुजरात में स्वामीराव के नाम से अखाड़े वगैरा बना कर युवकों में स्वास्थ्य-सुधार, व्यायाम और राष्ट्रीय भावना का प्रचार भी कर रहे थे। परन्तु ऐसे ढंग से कि पुलिस चौंके भी नहीं। पृथ्वीसिंह के गुजरात में होने की बाबत दल को मालूम था। धन्वन्तरी उनसे मिल चुका था। उनके अनुभव से लाभ उठाने के लिये और दल के काम में सहयोग देने के लिये उनसे अनुरोध किया गया। धन्वन्तरी स्वामीराव को इलाहाबाद ले आये। वहाँ आज़ाद से उनकी मुलाकात हुई। स्वामीराव ने गुजरात और महाराष्ट्र में काम चालू करने की जिम्मेवारी ले ली। कुछ मास बीत चुके थे पर अभी वहाँ कुछ हो नहीं पाया था।

दुर्गा भाबी कानपुर में थीं। दल की शिथिलता उन्हें अखर रही थी। वे काम में सक्रिय योग देना चाहती थीं। उस समय उत्तर भारत में पर्दे का रिवाज़ आज की अपेक्षा कहीं कड़ा था। किसी स्त्री का घूम-फिर कर काम करना ध्यान आकर्षित किये बिना न रहता। लोग ऐसी महिला के मायके और सुसराल दोनों की ही खोज किये बिना न रह सकते थे। गुजरात और महाराष्ट्र के संयुक्त केन्द्र बम्बई में पर्दे का रिवाज़ तब भी अधिक न था। भैया ने यही उचित समझा कि भाबी बम्बई जाकर स्वामीराव और उनके दूसरे साथियों को काम बढ़ाने की प्रेरणा और सहयोग दें।

दुर्गा भाबी के बम्बई पहुँचने के बाद तुरंत ही एक बड़ा कांड करने की बात सोची गयी। यह थी लाहौर षड्यंत्र के लोगों को दी गयी सज़ाओं के विरोध में बम्बई के गवर्नर को गोली मारने का निश्चय। उसके लिये योजना बनाने का काम स्वयं स्वामीराव और स्थानीय साथियों के सिर रहा।

दुर्गा भाबी के कानपुर लौटने पर इस योजना का ब्यौरा सुन हम लोगों को आश्चर्य ही हुआ था कि सफलता की आशा कैसे कर ली गयी थी? गवर्नमेंट हाउस के भीतर जाकर गवर्नर को गोली मारने का विचार था। गवर्नर सुबह आठ-नौ बजे नाश्ते के बाद बरामदे में बैठकर अखबार पढ़ा करता था। निश्चय था कि दुर्गा भाबी एक उधार मांगी हुई गाड़ी में गवर्नमेंट हाउस में चली जायंगी। अपना कार्ड गवर्नर के पास भेजेंगी। जब गवर्नर उन्हें मिलने के लिये बुलायेगा वे उसे मार देंगी।

प्रश्न उठा कि दुर्गा भाबी के साथ दूसरा कौन व्यक्ति जायेगा ? दुर्गा भाबी ने कहा कि दूसरा आदमी स्वामीराव रहें। स्वामीराव का विचार था कि वे भाबी के साथ आगे न जाकर पीछे रहें। जब भाबी और दूसरा साथी भागने लगें और पुलिस उनका पीछा करे तो वे उनकी रक्षा के लिये लड़ें। भाबी ने आग्रह किया, नहीं इसकी कोई जरूरत नहीं। स्वामीराव को साथ ही रहना चाहिये। अस्तु—

योजना बनाने वालों को यह भी मालूम नहीं था कि किसी गवर्नमेंट हाउस में हर एक गाड़ी को चले जाने की इजाज़त नहीं होती थी। कई दिन पहले इजाज़त मांगी जाती थी और आवश्यक पूछताछ के बाद भीतर जाने की आज्ञा मिलती थी। दुर्गा भाबी योजना बनाने वालों के भरोसे निश्चित दिन की प्रतीक्षा करती रहीं। जब तारीखें टलने लगीं तो उन्होंने आपत्ति की। आखिर एक दिन निश्चय हो ही गया। स्वामीराव के साथी वैशम्पायन एक बड़े सेठ से मिले और देशसेवा के काम के लिये मोटरगाड़ी माँग लाये। सधा हुआ सैनिक ड्राइवर बापटे गाड़ी चलाने के लिये बैठा। स्वामीराव ड्राइवर के साथ आगे थे। पीछे दुर्गा भाबी और सुखदेवराज भरे हुए पिस्तौल लेकर बैठे। गाड़ी गवर्नमेंट हाउस की ओर चली। गाड़ी भीतर कैसे जाती ? इसलिये फाटक के सामने से निकल गयी। स्वामीराव के आदेश से दो-तीन बार ऐसे ही चक्कर काटे गये। उस दिन 'मालाबार हिल' के एक चौराहे 'तीनबत्ती' पर गाड़ियों का चेकिंग भी हो रहा था। शायद लाइसेंसों की पड़ताल के लिये नम्बर नोट किये जा रहे थे। गाड़ी दो-तीन बार उसी चौक से गुजर गयी और फिर स्वामीराव के आदेश से नीचे मैरीन ड्राइव, फोर्ट, कोलाबा, बाइकुला, दादर, महीम जाने कहाँ-कहाँ दिन भर घूमती रही। दुर्गा भाबी को जिद चढ़ी हुई थी कि काम उसी दिन पूरा हो। वे अगले दिन पर टाल देने के लिये तैयार नहीं थीं।

गाड़ी को बम्बई की सड़कों पर घूमते-घूमते शाम का अंधेरा हो गया। गाड़ी लैमिंगटन रोड से जा रही थी और ग्रांट रोड लांघना चाहती थी। वहां आमदरफ्त की निगरानी करने वाले पुलिस के सिपाही ने पहले ग्रांट रोड पर से जाने वाली गाड़ियों को राह देने के लिये लैमिंगटन रोड से आने-जाने वाली गाड़ियों को रोक दिया। स्वामीराम ने क्रोध से चौराहे के बीच खड़े पुलिस के सिपाही की ओर देखकर हुक्म दे दिया—"फायर !" (गोली दाग़ दो) दुर्गा भाबी और सुखदेवराज हैरान, स्वामीराव की ओर देख कर चुप रह गये।

अस्तु, गाड़ी को रास्ता मिला। गाड़ी लैमिंगटन रोड पुलिस स्टेशन से कुछ कदम आगे, जहां अब 'नाज़' सिनेमा है, स्वामीराव की आज्ञा से खड़ी हो गयी। उन दिनों बम्बई की पुलिस में बहुत से गोरे सार्जेंट रहते थे। पुलिस स्टेशन से दो सार्जेंट अपनी स्त्रियों या प्रेमिकाओं की बाहों में बाहें डाले सड़क के साथ की पटड़ी पर चले जा रहे थे। इनमें से एक जोड़ा गाड़ी की बगल सामने आ गया। स्वामीराव ने फिर आज्ञा दी—"शूट!" (गोली दागो) इस बार दुर्गा भाबी और सुखदेवराज ने गोली चला दी। सोचा होगा, गवर्नर न सही कोई अंग्रेज तो है। पिस्तौल की गोलियां गोरे सार्जेंट की जांघ में और उसकी स्त्री की बांह में लगीं। स्वामीराव की आज्ञा से मोटर दौड़ पड़ी।

जख़्मी हो जाने वाले जोड़े के पीछे आने वाले सार्जेंट ने समीप ही खड़ी एक मोटर लेकर गाड़ी का पीछा किया पर फोजी ड्राइवर गाड़ी को भगा ही ले गया। मोटर आधी रात तक इधर-उधर चक्कर काट कर दल के स्थान पर पहुँची। दुर्गा भाबी का चार वर्ष का पुत्र शची बम्बई में साथ ही था। भाबी ने शची को साथ लिया और सावरकर 'बाबा' के मकान पर पहुँच अनुरोध किया—"......दो चार दिन में लौट कर आऊंगी तब तक इसे रख लीजिये।" और यह लोग मोटर में कल्याण पहुँच कर झांसी की गाड़ी में चढ़ गये।

अगले दिन पत्रों में गत संध्या का समाचार छपा। समाचार में यह भी था कि पुलिस को गोली मारने वाली एक महिला थी। सावरकर साहब ने स्थिति भांप कर शची को अपने यहां रखना उचित न समझ वैशम्पायन के यहां ही भिजवा दिया। दुर्गा भाबी कानपुर पहुँची तो इस व्यर्थ घटना के लिये बहुत खिन्न थीं लेकिन उनके बम्बई से लौट आने से स्वामीराव की जहमत तो टल ही गयी।

इसके कुछ वर्ष बाद पृथ्वीसिंह गांधी जी से मिले और उन्हें अपना वास्तविक परिचय दिया। गांधी जी ने उन्हें पुलिस को आत्म-समर्पण करने की सलाह देकर यह आश्वासन भी दिया कि यदि वे सशस्त्र क्रान्ति का मार्ग छोड़ कर गांधीवादी कार्यक्रम में सहयोग देने का निश्चय करलें तो गांधी जी अपने प्रभाव से उन्हें सरकार से मुआफ़ी दिलाने का भी यत्न करेंगे। पृथ्वीसिंह ने ऐसा ही किया। शायद इस निश्चय पर कि पृथ्वीसिंह गांधी जी के साथ गांधी आश्रम में ही रहेंगे। सरकार ने उन्हें मुआफ़ी दे दी।

पृथ्वीसिंह कई वर्ष गांधी जी के साथ रह कर गांधी जी के निर्देश से ही काम करते रहे परन्तु फिर गांधी आश्रम छोड़ पृथक काम करने लगे। इस

वर्ष (मार्च-१९५४) बम्बई में पृथ्वीसिंह जी ने बातचीत में एक रोचक घटना सुनाई---गांधी जी ने पृथ्वीसिंह को उत्साहित किया था कि वे आपबीती लिखें और गांधी जी उस पुस्तक की भूमिका या परिचय लिखकर किसी प्रकाशक को पुस्तक प्रकाशित कर देने की सिफ़ारिश कर देंगे। ऐसा होने से पुस्तक की पचास हज़ार या लाख प्रतियां बिक जाना कोई बड़ी बात न थी। पृथ्वीसिंह ने आपबीती लिखी पर उसे देखकर गांधी जी ने भूमिका या परिचय लिखना स्वीकार न किया। गांधी जी का प्रयोजन था कि पृथ्वीसिंह पश्चात्ताप की भावना से पुस्तक लिखें परन्तु पृथ्वीसिंह के मन में गांधी जी के वर्षों के सहवास से भी ऐसी भावना उत्पन्न न हुई बल्कि इतने वर्ष गांधी जी के निर्देश में बिता देने से भी कोई संतोष नहीं हुआ। आजकल वे गांधीवादी कांग्रेसी कार्यक्रम की अपेक्षा कम्युनिस्ट पार्टी के ही कार्यक्रम में विश्वास रखते हैं।

नवम्बर के महीने में चामत्कारिक शक्ति का वैज्ञानिक पदार्थ देने के लिये हंसराज वायरलेस द्वारा बतायी तारीख आ रही थी। भैया ने कहा यह तारीख मत चूको; कराची हो ही आओ। निदान फिर कानपुर से कराची के लिये चला। इस बार शुरू से ही भटिण्डा से सम्माहट्टा के रास्ते गया। हंसराज पुरानी जगह अपने भाई ब्रह्मदेव के यहाँ ही था। उसने कहा कि चीज़ तैयार है कल तुम्हें दे दूँगा। दूसरे दिन उसने मुझे कत्थई रंग के तरल पदार्थ से भरी एक छोटी पर चौड़ी बोतल दे दी। बोतल के शीशे के डाट पर मोम और कपड़ा लगाकर उसे सुरक्षित कर दिया गया था। साथ एक छोटी-सी शीशी भी थी। उसने बताया कि छोटी शीशी बोतल के साथ रखने से बोतल की शक्ति शांत रहेगी। छोटी शीशी बोतल से दो गज़ से अधिक दूर ले जाने पर बोतल से पांच सौ गज़ दूर तक पहुँचने वाली बिजली की लहरें उत्पन्न होने लगेंगी। मैंने चाहा कि उसका परीक्षण उसी के सामने अपने हाथ से कर लूँ पर हंसराज ने आश्वासन दिया—"विश्वास रखो जैसे देहली में परीक्षण करते थे वैसे ही जब चाहो कर के देख लेना। यहाँ मेरी भाबी और भाई के सामने कुछ करना ठीक नहीं।" मैं विश्वास के अतिरिक्त और कर भी क्या सकता था?

हंसराज का दिया सामान लेकर मैं बहुत उत्साह से लौटा। किसी खतरे की आशंका न रहे इस विचार से कराची से समुद्र के रास्ते बम्बई जाकर लौटने का निश्चय किया। अपने ख़याल में यह लम्बा रास्ता इसलिये चुना था कि निरापद होगा। पर यह अज्ञान ही था। दो दिन तो समुद्र में लग गये। जहाज में तीसरे दर्जे में डेक पर ही सफर कर रहा था। सहयात्रियों की बातचीत से पता

लगा कि बम्बई में चुंगी पर जेबों और सामान की भयंकर तलाशी होगी। जहाज़ बीच में एक दो जगह रुकता हुआ जाता था। लोग प्रायः ही चुंगी की चीज़ें चोरी से ले जाने का यत्न किया करते थे। यह सुना तो प्राण सूख गये। चुंगी वालों को इस बोतल के विषय में क्या बताया जा सकता था? उसे खोला जाता तो हंसराज के कथनानुसार वह व्यर्थ हो जाती और फिर अपनी जेब में जो पिस्तौल था उसका क्या जवाब होता? पर जहाज़ पर से लौटा तो जा नहीं सकता था। सोचा, भयंकर भूल की पर अब लौटने या बचाव का तो रास्ता था नहीं। उस विकट क्षण की प्रतीक्षा करने लगा। निश्चय था कि बिना किसी कारण के गोली चलाकर, स्मग्लर समझा जाकर प्राण देना ही बदा है। जहाज़ पर दो दिन मन बहुत दुखी रहा। जान पड़ता था कि चूहा बनकर चूहेदानी में आ फंसा हूँ; अपने अज्ञान के लिये पछताता रहा।

बम्बई बन्दरगाह पर बचकर निकल जाने की राह नहीं थी। कम से कम मैं तो कुछ जानता भी नहीं था। यदि कोई आशा थी तो साहस से निर्दोष होने के अभिनय से ही। वही किया। दूसरे मुसाफिरों से कुछ धक्का-मुक्की कर अपना सूटकेस चुंगी वाले के आगे कर प्रार्थना की—"साहब इसे जल्दी से देख लीजिये मुझे स्टेशन से यही गाड़ी पकड़नी है।" चुंगी का बाबू मेरे तहाकर रखे मैले कपड़ों को उलटने-पलटने लगा। मैं सोच रहा था कि अब इसने मेरी जेब टटोली या सूटकेस की तह में हाथ डाला और मैंने गोली चलायी। पर मेरी उतावली और स्वयं सूटकेस खोल देने के ढंग से बाबू का समाधान हो गया। उसने सूटकेस बन्दकर उस पर खड़िया से पास का निशान बना दिया। जान बची।

कानपुर पहुँचा। भैया और मैं बड़ी उमंग से बैटरी लेकर परीक्षण करने बैठे। परिणाम कुछ न हुआ। दूसरा बल्ब और बैटरी लेकर आज़माया। फिर वही बात। भैया ने बोतल को उठाकर कोने में दीवार से दे मारा। इसके बाद हम लोगों ने फिर हंसराज वायरलेस को परेशान नहीं किया या उससे परेशान नहीं हुए।

इस समय तक कुछ गिरफ्तारियाँ ऐसी हो चुकी थीं जिनके कारण कैलाशपति के मुखबिर बन जाने का विश्वास हमें हो गया था। दिल्ली में यह भी पता लग चुका था कि पुलिस कैलाशपति को विशेष सुविधायें दे रही थी और रामजस स्कूल के ड्रिल मास्टर राजबलीसिंह की पत्नी कमला भी उससे हवालात में मिलने जाती रहती थी। कैलाशपति, गिरफ्तारी के समय कमला के ही साथ

रह रहा था। उसी मकान की गली में, अपने मकान के दरवाज़े के समीप ही गिरफ्तार हुआ था। हम लोगों से सहानुभूति रखने वाले कुछ लोगों ने राष्ट्रीय भावना रखने वाले पुलिस और जेल के आदमियों से मिल कर कमला के कैलाशपति को जेल में जाने वाले पत्रों की नकलें भी ले लीं। इन लोगों का विश्वास था कि कैलाशपति की इस कायरता का कारण कमला के लिये मोह ही था। कमला ने रो-रोकर कैलाशपति को मुखबिर बन जाने के लिये विवश कर दिया था। इस उदाहरण को इस बात का प्रमाण बना लिया जा सकता है कि क्रान्तिकारियों का किसी स्त्री से प्रेम या सम्बंध उचित नहीं था।

कैलाशपति के बयान से यह स्पष्ट हो गया था कि वह गिरफ्तारी के तीसरे या चौथे दिन ही प्राणभिक्षा के वायदे पर मुखबिर बन गया था। कमला के प्रति उसके प्रेम को ध्यान में रखते हुए यह भी सोचा जा सकता है कि यदि कमला दूसरे ढंग की औरत होती, अर्थात् कैलाशपति से कहती कि तुम्हारी वीरता और शहादत के लिये मुझे अभिमान होगा तो कैलाशपति का व्यवहार कैसा होता? स्त्रियां और पुरुष दोनों ही तरह के होते हैं। यह अवश्य कहा जा सकता है कि कैलाशपति ने अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति के कारण गलत ढंग की स्त्री से प्रेम किया।

वीरभद्र की उलझन

कैलाशपति जैसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के मुखबिर बन जाने से हम सभी को बहुत धक्का लगा। आज़ाद के मन में विशेषकर यह प्रतिक्रिया हुई कि दल द्वारा मुखबिरों को कोई दण्ड न दिया जा सकने के कारण लोग मुखबिर बन जाने से नहीं हिचकते। इस घटना से मुखबिरों के प्रति आज़ाद का क्रोध और भी उबल पड़ा।

एक समस्या यह भी थी कि कैलाशपति से परिचित अनेक लोगों के गिरफ्तार हो जाने के बाद भी वीरभद्र तिवारी के खिलाफ़ कोई कारवाई क्यों नहीं हुई? वीरभद्र अब भी श्रद्धानन्द पार्क में अपने मकान में ही रहता था और बाज़ार में जहाँ तहाँ घूमता भी दिखाई दे जाता था। वीरभद्र खुफ़िया पुलिस के इंस्पेक्टर पं० शम्भुनाथ का केवल पड़ोसी ही नहीं था बल्कि ऐसी धारणा थी कि दोनों परिवारों में काफ़ी सौहार्द्य और सम्बंध भी था। आज़ाद के मन में यह सन्देह हो गया था कि वीरभद्र विश्वासघाती है।

आज़ाद ने इस विषय में चुन्नीगंज के मकान में मुझसे कई बार परामर्श किया। मैंने अपना विचार प्रकट किया कि खुफ़िया पुलिस के इंस्पेक्टर से

सौहार्द्र होना भी सन्देह का कारण हो सकता है परन्तु कैलाशपति की गिरफ्तारी के बाद भी, वीरभद्र फरार होने की आवश्यकता नहीं समझता, यही बात खास सन्देह का कारण है।

मेरा भी अनुमान था कि वीरभद्र ऐसी कोई घटना होने नहीं देना चाहता था जिससे उस पर आँच आने का डर हो। मेरा विश्वास था कि वीरभद्र तिवारी बहुत गहरी समझ-बूझ और शरीर खूब लम्ब-तड़ंग होने के बावजूद स्वभाव से कायर था। मैंने भैया को जनवरी १६३० की केन्द्रीय समिति में, तिवारी और कैलाशपति का दिया सुझाव याद दिलाया कि प्रान्तीय संगठन-कर्त्ताओं को सशस्त्र कार्यों में भाग लेने से रोक दिया जाये। मेरा विचार था कि भीरु आदमी प्राण बचाने की तिकड़म में कुछ भी कर सकता है। इन दिनों कोई केन्द्रीय समिति नहीं थी। हम लोगों में से जो समीप रहता, आज़ाद उसी से सलाह परामर्प कर लेते थे। दिसम्बर, जनवरी में इलाहाबाद में सुरेन्द्र पांडे और भवानीसिंह भी आ मिले थे। तब प्रायः ही आपस में सैद्धान्तिक बातचीत होती रहती थी।

आज़ाद ने तय कर लिया कि वीरभद्र तिवारी को गोली मार देनी होगी। उन्होंने मुझ से कहा कि वीरभद्र बहुत ही धूर्त और तेज़ आदमी है। इस अवसर पर तुम मेरे साथ रहना। मैं तैयार हो गया। यह खयाल मुझे जरूर आया कि वीरभद्र ने बहुत आड़े समय मेरी सहायता की है और मुझ पर उसका एहसान है। लेकिन दल के साथ वीरभद्र के उचित व्यवहार न करने के प्रमाण भी मौजूद थे। आज़ाद उस पर लगाये आरोप बताकर उसे अपना ढंग सुधारने का अवसर भी दे चुके थे। आज़ाद ने इस बात का प्रबंध कर लिया था कि वीरभद्र को किसी कार्यवश रात में 'मैमोरियल वेल' के समीप घाट पर आना पड़ेगा और 'मैमोरियल वेल' के पिछवाड़े के एकान्त स्थान में मैं और आज़ाद उसे घेर कर गोली मार देंगे। कैसे और क्योंकर वीरभद्र रात में उस एकान्त घाट पर चला आयगा, यह सब न मैंने पूछा न मुझे आज़ाद ने बताया ही। दो बार तो आज़ाद मुझे लेकर अंधेरे में उस स्थान् के चक्कर घंटे-घंटे भर काटते रहे। तीसरी बार मैं चुन्नीगंज में सो रहा था कि रात ग्यारह बजे आज़ाद ने आकर उठाया—"सोहन जल्दी चलो! चूक न जायें! वह आ रहा है।"

मैं तुरंत उठा। तकिये के नीचे से पिस्तौल जेब में डाल लिया और बाइसिकल पर आज़ाद के साथ चल दिया। इस बार भी अंधेरे और सर्दी में लगभग पैंतालीस मिनिट तक चक्कर लगाते रहने पर भी वीरभद्र नहीं आया। हम

लौटने ही को थे कि अंधेरे में सफ़ेद धोती, ब्लाउज़ और काले रंग का गरम वास्कट पहने एक दुबली-सी लगभग १६-२० वर्ष की लड़की आती दिखाई दी। आज़ाद उसकी ओर बढ़ गये। मेरा उस लड़की से परिचय न था और न आज़ाद ने मुझे साथ आने के लिये कहा इसलिये मैं कुछ कदम दूर ही खड़ा रहा। लड़की की बात समझ न आने पर भी उसका बोल सुनाई दे रहा था। वह घबराई हुई जान पड़ रही थी। यह भी मैं भांप रहा था कि वह वीरभद्र के वहां न आने का कारण बता रही है।

आज़ाद निराशा की सी सांस लेते हुए मेरे पास आकर बोले—"हर बार ससुर कोई न कोई झगड़ा हो जाता है।"

आखिर मैंने पूछ ही लिया—"कुछ बताओ तो सही कि क्या योजना थी? कैसे विश्वास था कि वह आ जायगा? और कहा कि मैं यह इसलिये पूछ रहा हूँ कि मेरे अनुमान में यह लड़की तुम से झूठ बोल रही थी।"

"कैसे?" भैया ने पूछा।

मैंने उत्तर दिया—"उसके ढंग और घबराहट से मुझे सन्देह है कि वह बात बना रही थी, पर बना नहीं पा रही थी।"

तब भैया ने उस लड़की का परिचय दिया और बताया कि इस लड़की ने उन्हें विश्वास दिलाया था कि वह रात में सरसैया घाट पर विशेष पूजा करने का बहाना करेगी और वीरभद्र को संरक्षकता या साथ के लिये लेती आयेगी। अब बता रही है कि वीरभद्र ने संदेश भेज दिया है कि उसे एक जरूरी काम पड़ गया है।

मैंने भैया से कहा कि मुझे इस लड़की के ढंग पर सन्देह है। वीरभद्र से ऐसी क्या आत्मीयता है कि उसे रात में ऐसी जगह ला सके? वीरभद्र का इतना विश्वास इसने कैसे पाया है? क्या उसे धोखा देने के लिये ही उससे इतना गहरा सम्बंध इसने जोड़ा है? यदि वास्तव में इसकी वीरभद्र से इतनी आत्मीयता है तो उसे बचाने के लिये तुम्हें ही धोखा दे रही हो? किसी को साथ लाकर गोली मरवा देने में कुछ न कुछ खतरा है ही। इसका ढंग ऐसा नहीं जान पड़ता कि इस काम को अपना कर्तव्य समझ रही हो। इस बंगाली लड़की के सम्बंध में काफ़ी दिन बाद मुझे दूसरे साथियों से पता चला कि वह प्रायः ही दुतरफ़ा चाल चला करती थी। उसकी परिस्थितियाँ भी ऐसी थीं कि एक जगह जमकर बैठना उसके लिये सुविधाजनक न हो सका। उस समय में उसके

सम्बंध में इतना ही जानता था। इस लड़की का उपनाम खोकी था। बाद में पता लगा कि उस उम्र की छोटी-मोटी उच्छृङ्खलता के बावजूद सशस्त्र क्रान्ति के काम के प्रति उसे बहुत लगन थी। वह उत्तर प्रदेश छोड़कर बंगाल चली गयी थी और वहां किसी जेल में ही उसकी मृत्यु हो गयी।

उन्हीं दिनों एक दिन दोपहर के समय मैं मेस्टन रोड के फुटपाथ पर चला जा रहा था। भीड़ काफ़ी थी। सहसा वीरभद्र से सामना हो गया। उसने मुझे खूब पहचाना परन्तु पहचानने का कोई संकेत प्रकट नहीं किया। वैसा ही मैंने भी किया। मेरी कमर में उस समय भी पिस्तौल था। वीरभद्र के पास था या नहीं, कह नहीं सकता। सम्भवतः नहीं ही होगा। पिस्तौल का रखना ही खतरे का कारण था। बिना निश्चित आवश्यकता के या केवल शौकिया ही खतरा सिर लेना वीरभद्र की प्रकृति नहीं थी। उस समय यह सब मैंने नहीं सोचा परन्तु उतनी भीड़ में और श्रद्धानन्द पार्क बगल में होने के कारण, जहां आस-पास उसके काफ़ी परिचित थे उस पर गोली चला देने की बात मेरे मन में आयी भी नहीं। बाद में सोचने पर समझा कि यह सब परिस्थितियां वीरभद्र के तो अनुकूल थीं। उसे गोली मार देने का जिस भोंड़े ढंग से आयोजन भैया ने किया था और बार-बार बुलाने पर उसका कतरा जाना, इन सब बातों से मेरे विचार में वह भैया की भावना जान चुका था। जब कोई आदमी मुखबिर बन जाता था तो उसका विरोध या शत्रुता, दल के खास व्यक्तियों से नहीं पूरे दल से हो जाती थी। ऐसा कोई कारण नहीं था कि वीरभद्र मुझे तरह दे जाता और आज़ाद को पकड़वा देता। बल्कि मेरे प्रति उसे कृतघ्नता की शिकायत कहीं अधिक होनी चाहिये थी। इसके बाद हम लोगों ने कानपुर में वीरभद्र को गोली मार देने का कोई प्रयत्न नहीं किया। यह भी बात थी कि इसके बाद मैं और भैया इलाहाबाद चले गये थे।

उस समय भैया के कहने से वीरभद्र को गोली मार देने में मुझे कोई नैतिक या भावात्मक आपत्ति नहीं जान पड़ी थी। काफ़ी बाद में, अर्थात् जेल में पुरानी बातों पर विचार करते समय या अब जब कभी वे बातें याद आ जाती हैं, तो उस प्रयत्न को दूसरे ही रूप में देखता हूँ। सन् १९४७ में भारत का शासन कांग्रेसी सरकार के हाथ आ जाने के बाद की बात है। एक सन्ध्या भुवाली में डाक्टर प्रेमलाल साह के एक अंगरेज मित्र के यहां चाय पी रहे थे। बेतकुल्लफी से बातें हो रही थीं। डाक्टर साह ने [illegible] लेखक के रूप में कराया था। अंग्रेज़ पति, पत्नी और उनका अंग्रेज़ मेहमान

को मेरी बातें भी दिलचस्प लग रही थीं। बात गांधीवाद पर हो रही थी। अंग्रेज़ मेहमान महिला का विचार था कि गांधीवाद संसार को भारत की बड़ी भारी देन है। मैं उनकी बात पर मज़ाक कर रहा था और वे हैरान हो रही थीं। वास्तव में वे गांधीवाद को कुछ भी समझती नहीं थीं। डाक्टर साह ने अचानक कह दिया, गांधीवाद को समझना हो तो इस आदमी से ही बात करो। इसने 'गांधीवाद की शव परीक्षा' पुस्तक लिखी है।

अंग्रेज़ महिला आँखें फाड़-फाड़ कर मेरी ओर देखने लगीं। उन्हें विस्मय हो रहा था कि भारत में ऐसे भी लोग हैं जो गांधीवाद की आलोचना कर सकते हैं। डाक्टर साह को मज़ाक सूझा। उन्होंने कहा—"यह वह आदमी है जिसने १९२९ में वायसराय की ट्रेन के नीचे बम विस्फोट किया था।"

दोनों अंग्रेज महिलाओं और सज्जन ने भी मुझे सिर से पांव तक दो बार देखा; मानो निश्चय कर लेना चाहते हों कि भूत नहीं आदमी ही सामने बैठा है। बातचीत गम्भीर हो गई। अंग्रेज महिला कुछ करुण स्वर में बोलीं—खैर, बीत गयी सो बात गयी, अब तो कोई शत्रुता बाकी नहीं। परन्तु मैं यह पूछना चाहती हूँ कि ऐसा काम करने के बाद तुम्हें कभी परिताप या आत्म-ग्लानि अनुभव नहीं हुई?"

यह प्रश्न करने वाली महिला के पति दूसरे महायुद्ध में ब्रिटिश सेना में मेजर थे। मैंने प्रति प्रश्न किया—"सम्भव है आपके पति के हाथों या उनके निर्देश में शत्रु पक्ष के कई लोगों की जानें गयी हों। कम से कम ऐसा प्रयत्न तो उन्होंने किया ही होगा। इस विचार से उन्हें कभी परिताप या आत्मग्लानि अनुभव हुई या नहीं? कभी आप ने अपने पति से ऐसी जिज्ञासा की है?"

महिला को अपने पति से ऐसी जिज्ञासा का कोई तुक या कारण ही नहीं जान पड़ा क्योंकि पति अपनी जान जोखिम में डाल कर अपना कर्तव्य पूरा कर रहे थे।

मैंने यही बात अपनी ओर से दोहरायी—"आपके पति तो तनख्वाह लेकर कर्त्तव्य पूरा कर रहे थे। मैं तनख्वाह की भी आशा न कर, कहीं अधिक जोखिम झेल कर अपना कर्त्तव्य पूरा कर रहा था। [illegible] वायसराय बेचारे से मुझे क्या लेना देना था। आज [illegible] निठुरता पाऊं तो सम्भव है अपना कोट उतार कर दे दूं। वायसराय की घटना के लिये अथवा दूसरी घटनाओं के लिये जब मैंने अंग्रेज सरकार के प्रतिनिधियों को अपनी गोली की [illegible] से गिरते देखा, मुझे कभी कोई परिताप या ग्लानि आज तक अनुभव नहीं

हुई । परन्तु जेल में या अब भी कभी वीरभद्र पर गोली चला देने के प्रयत्न की बात याद आने पर मानना पड़ता है कि यह ज्यादती ही थी । मेरे विचार में वीरभद्र के धोखे का रूप केवल यह था कि वह मुसीबत से बचे रहने के लिये घटना न होने देने का बहाने बना देता था । अपने किसी आदमी को उसने गिरफ्तार करा दिया हो, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला । यदि वह हम लोगों से साफ़ कह देता कि वह जान जोखिम में न डाल कर केवल संगठन और परामर्श द्वारा ही सहायता करेगा तो अधिक अच्छा रहता । अन्तिम दिनों में सुरेन्द्र पांडे ने स्पष्ट ही ऐसा कह दिया था तो उसके प्रति हमें कोई संदेह नहीं हुआ । उसे ज़बरदस्ती जोखिम में खींचना भी आवश्यक न जान पड़ा ।

आज़ाद चुन्नीगंज वाले मकान में आते रहते थे । कभी रात भी वहां ठहर जाते । अगर किसी दिन अरहर की दाल विशेष तौर पर खाने की इच्छा होती तो प्रकाशवती को दाल चढ़ा देने के लिये कह कर दाल पक जाने की प्रतीक्षा में बैठे रहते । ऐसा प्रायः कभी ही होता था कि आज़ाद चुप बैठे रहें । पास बैठे होंगे तो बात करते ही रहेंगे । आज़ाद का शरीर मोटा कहने लायक दोहरा और खूब गठा हुआ था । कसरत का शौक भी था परन्तु फरारी के अनियमित जीवन में नियम से कसरत हो नहीं सकती थी । अगर सप्ताह भर से अधिक कहीं रहना हो जाता तो उन्हें सुबह कुछ दण्ड सपाटे लगा लेने की बात याद आ जा जाती पर आज़ाद को मोटा कहे जाने से बड़ी चिढ़ थी । यों हम लोग उन्हें पीठ पीछे मोटा कह कर ही बात करते थे । प्रकाशवती प्रायः मोटे भैया ही कहती थी ।

चुन्नीगंज के उस मकान में आज़ाद प्रकाशवती को एक तकिये पर निशाना बनाकर एयर पिस्टल से निशाना मारने का अभ्यास कराया करते थे । तकिये पर इसलिये कि पिस्तौल का छर्रा खराब न हो और कई बार उपयोग में आ सके । वे प्रकाशवती को अंग्रेज़ी पढ़ने पर भी जोर देते रहते थे । फरारी के समय चुन्नीगंज के मकान में शुरू की हुई अंग्रेजी जारी रही और बहुत काम आयी । १९३४ में गिरफ्तार होकर छूटने के बाद उनके लिये मैट्रिक की परीक्षा के लिये बनारस के एक कालिज में भरती हो जाना सम्भव हो सका । इस मकान में एक दिन आज़ाद के सामने ही प्रकाशवती के मुंह से निकल गया—"मोटे भैया कभी ये कहते हैं कभी वह कहते हैं ।"

आज़ाद ने बहुत गुस्सा दिखाया—"अच्छा री डुइया, हमें मोटा कहती है । सब तेरी ही तरह हो जायें !" और उसकी पीठ पर दो चार घूंसे जड़

देते। प्रकाशवती उन दिनों बहुत दुबली पतली थीं। वजनमन भर से अधिक न होगा। प्रकाशवती को कसरत करने का हुक्म हो गया। इसके बाद आज़ाद का एक जरूरी प्रश्न यह भी हो गया—"डइय्यां कसरत करती हो या नहीं?"

चौधरी रामधनसिंह से मैंने आज़ाद का परिचय करा दिया था। यह जान कर कि चौधरी रामधनसिंह दल की ओर से मर्दान में रह आये हैं, वहां के एकाध प्रभावशाली ख़ान से भी उनका परिचय है और गुजारे लायक पश्तो भी बोल लेते हैं, आज़ाद को बहुत उत्साह हुआ। हम लोगों ने चौधरी को उनके चमड़े के काम के स्कूल से कुछ दिन की छुट्टी लेकर, मर्दान यह पता लेने के लिये भेजा कि सीमान्त के पार से शस्त्र खरीदने की और किसी आदमी को अफगानिस्तान की राह विदेश, खासकर रूस भेजना हो तो क्या सम्भावना हो सकती है। पिछले सितम्बर के झगड़े के बाद से मेरे मन में निरंतर यह इच्छा थी कि विदेश या रूस जाकर कुछ और अनुभव प्राप्त करके सम्भव हो तो ब्रिटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध विदेश से सहायता लेकर अधिक व्यापक रूप में काम किया जाये। यह बात आज़ाद को भी जंच रही थी।

चौधरी मर्दान में प्रायः सप्ताह भर रह कर लौटे। उन्होंने आकर बताया कि सीमान्त पार से शस्त्र खरीदने की योजना ठीक नहीं रहेगी। इस में दो कठिनाइयां थीं। एक तो यह कि उस इलाके के पठान यह जानते थे कि भारत में शस्त्र रखना ग़ैरकानूनी है इसलिये चोरी से बेचते समय शस्त्रों का बेहिसाब मूल्य मांगते थे। दूसरे यह कि उस इलाके में जगह-जगह शस्त्रों के छोटे-छोटे कारखाने खुल गये थे जो देखने में बिलकुल जर्मन और अंग्रेज़ी रिवाल्वर, पिस्तौल जैसे ही हथियार बनाकर, दाम अधिक वसूल कर सकने के लिये उन पर 'मेड इन जर्मनी' और 'मेड इन इंगलैंड' के ठप्पे भी लगा देते थे। लेकिन निशाना इन हथियारों का उतना सच्चा न होता था और धोखा दे जाते थे। काबुल की राह विदेश जाने के सम्बन्ध में उन्होंने पूरी सुविधा का आश्वासन दिलाया। तय हो गया कि मैं दो, तीन मास में उस रास्ते रूस की ओर चला जाऊंगा।

चौधरी रामधनसिंह के अतिरिक्त १९३० अगस्त में ही धन्वन्तरी हमारे एक पुराने साथी रामकृष्ण को इस प्रयोजन से सरहद पार भेज चुका था। रामकृष्ण भी नेशनल कालिज में हमारा सहपाठी था। मैं सिंहावलोकन के पहले भाग (पृष्ठ [illegible]) में लिख चुका हूँ कि कालिज के प्रथम वर्ष में हम दोनों [illegible] और [illegible] आते थे। कालिज की शिक्षा समाप्त कर

रामकृष्ण ने लाहौर में मोहनलाल रोड पर शुद्ध घी की दुकान खोल ली थी। रामकृष्ण बेमतलब बात बहुत कम करता था। एक उपयोगी और महत्वपूर्ण काम बतलाया जाने पर दुकान को लपेट-समेट कर वह सरहद पार जा बसा और कुछ ही दिनों में उसने पश्तो भाषा सीख कर अंग्रेज़शाही के विरोध के सांझे उद्देश्य में इप्पी के फकीर तक से सम्बन्ध जोड़ लिया। वहाँ बीमार हो जाने पर और उचित चिकित्सा न हो सकने के कारण उसकी मृत्यु हो गयी। उसके प्रयत्न का कोई विशेष परिणाम सामने नहीं आ सका इसलिये उसके प्रयत्न को चाहे महत्व न दिया जाये परन्तु इससे हमारे दल के व्यापक दृष्टि-कोण और रामकृष्ण के साहस और चातुर्य का संकेत तो मिलता ही है अर्थात् हमारे प्रयत्न केवल व्यक्तिगत आतंकवाद में सीमित नहीं थे। हमारा दृष्टि-कोण व्यापक और साम्राज्यवाद विरोधी था।

पंजाब गवर्नर पर गोली

१९३० दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में, लाहौर में यूनिवर्सिटी के कन्वोकेशन के समय गवर्नर पर गोली चलाये जाने के समाचार से भी हमें बहुत उत्साह हुआ। यह काम भी हि०स०प्र०स० के प्रभाव के अन्तर्गत ही हुआ। पंजाब में झगड़ा बढ़ जाने के बाद से इन्द्रपाल तो असंतुष्ट होकर अतिशी चक्कर का उप संगठन बना बैठा था परन्तु कुछ लोग धन्वन्तरी, सुखदेवराज के साथ रहे। इन लोगों में देवराज, दुर्गादास खन्ना, रणवीर और केवल-कृष्ण आदि मुख्य थे। धन्वन्तरी के भी दिल्ली में गिरफ्तार हो जाने से और सुखदेवराज के यू० पी० में चले जाने से यही लोग सशस्त्र विद्रोह की भावना को पंजाब में सचेत बनाये रखने का यत्न कर रहे थे। दुर्गादास खन्ना और रणवीर ने लाहौर षडयंत्र के मुकदमे में दी गयी सज़ाओं के विरोध में गवर्नर पर गोली चलाने की योजना बनाई थी।

गवर्नर पर गोली चलाने के लिये इन लोगों ने अपने बीच में से किसी को नहीं चुना। इसके लिये मर्दान से एक साहसी नवयुवक हरिकृष्ण को बुला लिया गया। क्रान्तिकारी भावना और विचारों से हरीकृष्ण का पहले कोई परिचय न होने या उनसे कोई सैद्धान्तिक लगाव न होने पर भी देशभक्ति के भाव से वह जान की बाजी लगाकर राष्ट्र के शत्रु पर वार करने के लिये तैयार हो गया। कन्वोकेशन के अवसर पर यूनीवर्सिटी हाल में प्रवेश के लिये प्रवेश-पत्र लाकर उसे दे दिया गया। दुर्गादास और रणवीर स्वयं हाल में नहीं गये।

कन्वोकेशन की परिपाटी पूरी करके जिस समय गवर्नर जुलूस के रूप में हाल के भीतर से जा रहे थे, हरीकृष्ण ने उन पर गोली चला दी। निशाना ठीक नहीं बैठा। गवर्नर साहब और उनके अंगरक्षक फौजी अफसर भाग कर तितर-बितर हो गये। हरीकृष्ण ने बराम्दे में भाग आये गवर्नर का पीछा किया। दुबारा गोली चलाते समय एक राजभक्त सब-इन्स्पेक्टर चरणसिंह हरीकृष्ण को पकड़ने के लिये बीच में आ गया और मारा गया। हरीकृष्ण भी घेर लिया गया।

इस सम्बन्ध में पहली गिरफ्तारी २४ दिसम्बर को मर्दान में चमनलाल की हुई। हरीकृष्ण का परिचय दुर्गादास आदि से चमनलाल ने ही कराया था। इसका अर्थ है कि लाहौर से २३ दिसम्बर को ही पुलिस मर्दान के लिये रवाना हो गयी अर्थात् हरीकृष्ण ने बहादुरी करने के बाद भेद खोलने में भी देर नहीं लगाई। सप्ताह भर के भीतर दसौन्दासिंह, रणवीर और दुर्गादास भी गिरफ्तार हो गये। दसौन्दासिंह सरकारी गवाह बन गया। दुर्गादास खन्ना एडवोकेट ने इस घटना के संस्मरण में लिखा है कि घटना से पहले उन्होंने लाहौर जेल में भगतसिंह को एक गुप्त पत्र लिखकर राय ली थी। भगतसिंह ने उत्तर दिया था—"मैं इस काम में तुम्हें अपनी नैतिक अनुमति तो नहीं दे सकता, 'हिम्मत' है तो करो।" भगतसिंह का जवाब बिलकुल ठीक ही था। वह यदि कहता कि 'उचित' समझो तो करो तो और बात होती परन्तु उसने 'हिम्मत' शब्द व्यवहार किया। स्पष्ट अर्थ था कि काम करने के बाद निबाह भी पाओगे? कारण यही कि नौसिखिया आदमी दल के हित में क्रान्तिकारी भावना के अनुकूल व्यवहार कर पायेगा, इस बात में उसे सन्देह था।

अंग्रेज सरकार ने हरीकृष्ण को फांसी पर तुरन्त लटका कर सशस्त्र राजद्रोह के दण्ड का उदाहरण जनता को दिखा देने में बहुत व्यग्रता दिखायी। उस पर षड्यन्त्र का लम्बा मुकद्दमा न चला कर केवल हत्या का मुकद्दमा चलाया गया और उसे फांसी पर लटका दिया गया। दुर्गादास, रणवीर पर षड्यन्त्र का मुकद्दमा बाद में चला। सेशन जज ने उन्हें भी फांसी की सज़ा दी थी परन्तु रणवीर और दुर्गादास दोनों के ही परिवार लाहौर में बहुत प्रभावशाली थे। उन्हें सभी वकीलों का सहयोग प्राप्त था। हाईकोर्ट में वे लोग बरी हो गये। ऐसी घटनायें इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि हि०स०प्र०स० के प्रयत्नों से सशस्त्र क्रान्ति और विदेशी शासन के प्रति विद्रोह का वातावरण और भावना तो फैल गयी थी परन्तु गांधी जी और कांग्रेस के निरन्तर विरोध के कारण वह संगठित रूप और जनता का प्रकट समर्थन नहीं पा सकी थी।

इन्द्रपाल

इन दिनों हमारे दिमाग़ में सबसे अधिक परेशानी थी अपने दल के मुखबिर बन जाने वाले लोगों के कारण। कैलाशपति की बात तो कह ही चुका हूँ। मुझे व्यक्तिगत रूप में सब से अधिक वेदना हुई थी—दूसरे लाहौर षड़यंत्र के मुकद्दमे में इन्द्रपाल के भी मुखबिर बन जाने के समाचार से। इस समाचार से आज़ाद को भी कम धक्का नहीं लगा। दिल्ली के समीप इन्द्रपाल के साधु बन कर वास्तविक तपस्या करने के तथा बहावलपुररोड के मामले में उसके साहस की सभी बातें आज़ाद जानते थे। इन्द्रपाल के विषय में हम लोग ऐसी अफ़वाह पर एतबार न करते परन्तु अदालत में उसके सरकारी गवाह के रूप में पेश होने और उसके बयानों को पत्रों में छपा देखकर कैसे इंकार कर देते। कुछ बातें ऐसी थीं कि इन्द्रपाल के अतिरिक्त कोई दूसरा कह ही नहीं सकता था। आज़ाद प्रायः ही मानसिक संताप से कहते—"सोहन अब किसी का एतबार नहीं किया जा सकता। एतबार उसी का जो गिरफ्तार होने के बजाय अपने सिर में गोली मार लें!"

१६३१ जनवरी के पहले या दूसरे सप्ताह में समाचार पत्रों में मोटे अक्षरों में छपा कि दूसरे लाहौर षडयंत्र के मामले का सरकारी गवाह इन्द्रपाल पलट गया। उसने अदालत में कह दिया कि पुलिस उसे परेशान करके झूठे बयान दिला रही है। उसने अदालत में वे कागज़ भी पेश कर दिये जो पुलिस ने उसे अदालत में बयान देने के लिये लिख कर दिये थे। हम लोग प्रसन्नता से उछल पड़े। भैया ने कहा—"ये साला सधवा (साधू) जरूर कोई ऐसी हरकत करेगा जो किसी ने न की हो।"

× × ×

इन्द्रपाल सरकारी गवाह बना और फिर पलट गया, इतना कह देने से बात स्पष्ट नहीं हो जाती। दूसरे भाग में कह चुका हूँ कि मेरे, धन्वन्तरी और सुखदेवराज आदि के झगड़े से इन्द्रपाल और उसके द्वारा दल से सम्बन्ध रखने वाले लोग खिन्न हो गये थे। वे अपनी समझ से अलग ही काम करने लगे थे। इन्द्रपाल जानता था कि उसे दल की ओर से संगठन करने या कुछ करने का अधिकार नहीं है इसलिये उसने अपने कामों का उत्तरदायित्व दल पर न आने देने के लिये, अपने इस संगठन का नाम अतिशीघ्रचक्कर रख लिया था। इस संगठन द्वारा पंजाब में कई जगह बम विस्फोट के परिणाम स्वरूप जब

गिरफ्तारियां आरम्भ हुई तो लायलपुर में इस दल के प्रभाव में काम करने वाले पुलिस के दो सिपाही मलिक कुन्दनलाल, बंसीलाल और दूसरे साथी भी सप्ताह दो सप्ताह में ही गिरफ्तार हो गये। मेरा छोटा भाई धर्मपाल भी इन लोगों में था। वह बचने के लिये भाग कर जालंधर जा दसवीं श्रेणी में भरती होकर बोर्डिंग में रहने लगा था। वह भी गिरफ्तार कर लिया गया।

हम लोग और हमसे पहले के अनुभवी साथी दल के लोगों को काफ़ी समय तक पकाते-सधाते रहते थे, सब प्रकार के कष्ट सहने के लिये चेतावनी देते रहते थे। भैसी शिक्षा-दीक्षा इन लोगों की नहीं थी। परिणाम में सब से पहिले मलिक कुन्दनलाल और बंसीलाल ने भेद खोला और जब पुलिस ने उनसे पायी सूचना के आधार पर दूसरों को मारपीट कर पूछ-ताछ करनी शुरू की तो काफी साथी बकने लगे और अपनी कारगुजारियाँ कबूल कर बैठे। नाम यहां लेने की जरूरत नहीं क्योंकि उनमें से कई कांग्रेसी राज में बहुत सम्मानित कार्यकर्ता बन गये हैं। वह उनकी क्षणिक कमजोरी थी या इसका कारण उनका क्रान्तिकारी भावना में ठीक से पग न पाना था। इन्हें मारा-पीटा भी खूब गया।

लायलपुर के धर्मवीर के दोनों हाथ खाट के पांवों के नीचे रख कर कई-कई सिपाही खाट पर बैठ जाते। उसने चीखने-चिल्लाने के बावजूद भेद नहीं खोला। उसे कम्बल में लपेटकर उसकी अंधाधुंध पिटाई भी की गयी पर वह बका नहीं। धर्मपाल को दीवार में लगे कड़े से हथकड़ी बांध कर पांच दिन और रात खड़ा रखा गया। दिन-रात में खा लेने और दिशा फरागत के वास्ते लगभग एक घंटे के लिये खोला जाता था। वह यही कहता रहा कि मुझे कुछ मालूम नहीं। जब उसकी पिंडलियां जांघों की तरह सूज गयीं, उसने भूख हड़ताल कर दी। वह बेहोश हो गया। तब उसे लिटा कर सिपाहियों ने पांव से लताड़ना और गरम तेल की मालिश आदि करना शुरू किया शायद इसलिये कि सुध आ जाये तो फिर वही यातना देकर बकने के लिये विवश किया जाये। यदि धर्मपाल ने हथकड़ी से पहले दिन टांगे जाते ही भूख हड़ताल कर दी होती तो छः दिन न टंगना पड़ता। ऐसी यातनाएं प्रायः इन सभी लोगों को दी गयीं; मूंछों के बाल नोचे जाते और गुड़ के डले पर बहुत से चींटे इकट्ठे कर, पायजामे के पहुँचे नीचे से बांधकर गुड़ के डले को पायजामें में डाल दिया जाता। हाथ दीवार में गड़े खूंटे या कड़े से बांध दिये जाते थे। ऐसी यंत्रणाएँ पहले लाहौर षड्यंत्र और दिल्ली षडयंत्र के अभियुक्तों को

या बाद में मुझे भी नहीं दी गयीं। पुलिस ने इन लोगों के साथ ऐसा दुर्व्यवहार करने का साहस इसीलिये किया कि वह इन्हें नौसिखिया समझ गयी थी। अस्तु—

एक दिन धर्मपाल को दफ्तर में पूछताछ के बाद दोपहर के भोजन के लिये उसकी कोठरी में लाया गया। इन अभियुक्तों को खाना देने की ड्यूटी हवल्दार पंडित फकीरचन्द की थी। फकीरचन्द धर्मपाल के लिये खाना लेकर आया तो धर्मपाल पर ड्यूटी देने वाले सिपाही अब्दुल सत्तार ने धर्मपाल की हथकड़ी फकीरचंद को थमा दी और संडास की ओर चला गया। फकीरचंद कांगड़े का था। उसने पहाड़ी बोली में धर्मपाल से कहा—"पांदा (पण्डित) तुमसे बात करने के लिये बुला रहा है।" इन अभियुक्तों को आपस में बात करने का अवसर नहीं दिया जाता था। धर्मपाल को सन्देह हुआ कि यह आदमी कांगड़े का है तो क्या हुआ, कहीं फांसने की चाल तो नहीं कर रहा। परन्तु फकीरचंद ने सचमुच धर्मपाल को कोठरी से ले जाकर पीछे इन्द्रपाल की कोठरी के सामने खड़ा कर दिया।

इन्द्रपाल ने बताया—"इस समय तक हमारे पाँच साथी जो कुछ जानते थे, पुलिस को बता चुके हैं और प्राणभिक्षा के वचन पर सरकारी गवाह बनने के लिये तैयार हैं। यह लोग कम से कम सत्रह साथियों को फांसी पर लटकवा देंगे। अब्दुल अज़ीज़ (इस मुकद्दमे का इंचार्ज पुलिस सुपरिंटेन्डेन्ट) मुझे गवाह बनाने के लिये फुसला रहा है क्योंकि और कोई गवाह अलग-अलग घटनाओं को जोड़ नही सकता और न इस मुकद्दमे का सम्बंध फरार आज़ाद और यशपाल की मार्फत पहले मुकद्दमे और दिल्ली षड़यन्त्र से जोड़ सकता है। इस तरह षड़यन्त्र नहीं बन पाता। मैं सोचता हूँ कि मैं गवाह बनकर सब जिम्मेवारी अपने ऊपर लेलूं और सबको बचाने की कोशिश करूं। तुम्हारी क्या राय है?"

धर्मपाल ने उत्तर दिया—"सरकारी गवाह बनने की बात तो मैं किसी भी मोल पर नहीं मान सकता। तुम्हें अपने ऊपर इतना भरोसा है तो सोच लो।"

"तुम्हें क्या मुझपर भरोसा नहीं है?"—इन्द्रपाल ने पूछा। धर्मपाल ने कहा—"अब तक तो भरोसा ही रहा है। तुम्हारी नीयत पर अब भी भरोसा कर सकता हूँ पर बात टेढ़ी है।" इन्द्रपाल ने उत्तर दिया—"अच्छा मैं सोचूंगा।"

तीन-चार दिन बाद फकीरचंद ने धर्मपाल को रोटियाँ देते हुए पहाड़ी बोली में कहा—"सम्भल कर; रोटियों में पंडित का संदेशा है।" तन्दूर की रोटियों में बीड़ी बंडल के कागज़ पर इन्द्रपाल का संदेश था कि वह सरकारी गवाह बन गया है।

डेढ़ मास तक इन्द्रपाल की और पुलिस की गहरी छनती रही। मुकद्दमा अदालत में पेश हुआ। साठ या सत्तर गवाह भुगत चुके थे। इन्द्रपाल की बारी आयी। इन्द्रपाल साल दिन तक बयान देता रहा। बयान अखबारों में छपते थे। राई-रत्ती ठीक। हम लोग पढ़ते थे और सिर पीट लेते थे, इसे हो क्या गया? इन बयानों में भगवती भाई, आज़ाद और यशपाल की वे सब करनियाँ खूब खोल-खोलकर बखानी गयी थीं जिनके कारण कोई भी सज़ा कम होती। भगवती भाई तो शहीद हो चुके थे। आज़ाद और यशपाल अभी फरार ही थे इन्द्रपाल के बयानों में इतना ब्यौरा और गहराई होते हुए भी इनके कारण कोई नई गिरफ्तारी न हुई थी। अब बयान का वह भाग आया जिसमें जेलों में बन्द साथी फँसते थे।

नियम के अनुसार इन्द्रपाल को नित्य बयान देने से पहले धर्म की कसम दिलाई जाती थी कि केवल सच ही बोलेगा, झूठ नहीं बोलेगा। आठवें दिन इन्द्रपाल ने अदालत में शपथ लेने से इन्कार कर दिया। कारण पूछने पर उत्तर दिया—"साहब, धर्म की कसम खाकर झूठ नहीं बोलूंगा। यह जन्म तो पुलिस ने बिगाड़ ही दिया, अब परलोक नहीं बिगाड़ सकता। वहाँ तो पुलिस साथ जायगी नहीं। शपथ खाने के बाद तो एक ही बात कह सकता हूँ कि पुलिस मुझ से झूठा बयान दिला रही है। शपथ न दिलवाइये तो जो पुलिस ने रटाया-पढ़ाया है, सब सुना सकता हूँ।"

सरकारी वकील ज्वालाप्रसाद ने आपत्ति की—"गवाह बेईमान हो गया है और पुलिस पर झूठी तोहमत लगा रहा है। अदालत ने इन्द्रपाल से इस बात का प्रमाण मांगा कि पुलिस उसे बयान पढ़ा रही है। इन्द्रपाल ने अपने कपड़ों में छिपाये पुलिस के लोगों के हाथ के लिखे कागज़ निकाल कर दिखा दिये और कहा अदालत और सफाई के वकील मेरे साथ चलें तो हवालात की कोठरी में चलें तो वहां रखे हुए और कागज भी दिखा सकता हूँ। उसने वही किया भी और बहुत से अकाट्य प्रमाण पुलिस द्वारा झूठा बयान बनाने के दिये। इन्द्रपाल ने अदालत से मांग की कि आइंदा मैं सच्चा बयान केवल इसी शर्त पर दे सकता हूँ कि मुझे किले में पुलिस के कब्जे से हटाकर जेल

की हवालात में भेज दिया जाये और अदालत मुझे विश्वास दिलाये कि सच्चा बयान देने के कारण मुझ पर अत्याचार नहीं किया जायगा। उस पर सरकारी वकीलों ने दोनों बयानों की लिखी हुई कापियां लेकर जिरह की। पर वे उसे कहीं एक भी बात या तारीख के बारे में उखाड़ नहीं पाये। केवल एक अवसर पर जिरह के उत्तर में उसने कहा—"मुझे याद नहीं।" इन्द्रपाल के इस उत्तर से सरकारी वकील वृद्ध रायबहादुर ज्वालाप्रसाद ने बहुत संतोष से कहा—"शुक्र है पंडित जी, एक बार तो आप के मुंह से निकला कि मुझे याद नहीं। इन्द्रपाल के उदाहरण से इस मामले का दूसरा गवाह मदनगोपाल भी पलट गया।

संक्षेप में यह कि मुकद्दमा गिर गया। सरकार ने इन्द्रपाल से बदला लेने के लिये, उस पर सरकार को धोखा देने और अदालत में झूठ बोलने का और उसी के बयान के आधार पर आतिशीचक्कर कांड में हुई हत्याओं के लिये उस अकेले पर मुकद्दमा चलाया। सेशन से उसे फांसी की सजा दे दी गयी परन्तु षड्यंत्र का मुकद्दमा गिर गया। केवल उन्हीं लोगों को छोटी-छोटी सजायें हो सकीं जिन्होंने मार से हार मान कर या सरकारी गवाह बन जाने की आशा में अपने अपराध मैजिस्ट्रेटों के सामने कबूल लिये थे। सशस्त्र राजद्रोह का मामला न बन सका।

इन्द्रपाल को बचाने के लिये हाईकोर्ट में मुकद्दमा लड़ा गया। इसमें सफाई की ओर से मुख्य वकील थे, रोहतक के स्वर्गीय लाला श्यामलाल जी। श्यामलाल जी असहयोग आन्दोलन में वकालत छोड़ चुके थे। इस मामले के अभियुक्तों की सहायता करने के लिये ही उन्होंने दुबारा वकालत शुरू की। उन्हें अदालत से फीस के रूप में चौंसठ रुपये रोज़ मिलते थे। यह रुपया वे अभियुक्तों की [illegible] के लिये ही खर्च कर देते थे। श्यामलाल जी और सरकारी व[illegible] के साहस और बुद्धि की प्रशंसा करते नहीं थकते थे। बहुत जोर लगाने के बाद इन्द्रपाल की फांसी की सज़ा, जन्मभर काला पानी की सज़ा में बदल गयी। जिस समय वाह-वाही और प्रशंसा हो रही हो, साहस से फांसी की ओर बढ़ जाना एक बात होती है परन्तु जब सब ओर से मुखबिर बन जाने के कलंक और थुक्का-फजीहत की वर्षा हो रही हो, अपने प्राण देने का निश्चय कर उद्देश्य पर डटे रहने के लिये और अधिक साहस की आवश्यकता चाहिये।

उपरोक्त मामलों से इन्द्रपाल के मस्तिष्क पर जो जोर पड़ा और फिर उसके साथ पुलिस ने जो दुर्व्यवहार किया, उसके परिणाम स्वरूप उसे जेल में अधरंग (पैरेलसिस) की बीमारी हो गयी। कुछ दिन तो जेल वालों ने समझा कि इस आदमी के पाखंड और धूर्तता की कोई सीमा नहीं। यह बीमारी भी धोखा ही है। उसकी परवाह नहीं की गयी। फिर यह देखना आवश्यक समझा गया कि सचमुच बीमारी है तो इलाज क्या किया जाये ?

श्यामलाल जी इन्द्रपाल की निष्ठा और साहस से बहुत प्रभावित थे। वे इस सम्बंध में गांधी जी से मिले और इन्द्रपाल की प्राण रक्षा के लिये यत्न करने का अनुरोध किया। गांधी जी ने पंजाब के तत्कालीन मुख्य मन्त्री सर सिकंदर हयात खाँ को इस विषय में पत्र लिखा। सरकार के बड़े से बड़े डाक्टरों ने परीक्षा की और परिणाम पर पहुँचे कि बीमारी विकट रूप ले चुकी है, इलाज कोई नहीं हो सकता। किसी भी समय प्राण निकल जा सकते हैं। बीमारी को असाध्य समझ कर इन्द्रपाल को जेल से रिहा कर दिया गया।

लाला श्यामलाल

श्यामलाल जी परम गांधीवादी थे। वह उन चंद लोगों में से थे जिन्होंने १९२१ के असहयोग आन्दोलन में अपनी खूब चलती वकालत छोड़ दी थी और फिर दूसरे वकीलों की तरह आमदनी के लोभ में कचहरी से कभी सहयोग नहीं किया। केवल क्रान्तिकारियों की सहायता के लिये ही उन्होंने दुबारा वकालत की थी। क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आने के बाद वे उनके प्रति गहरी सहानुभूति और अनुराग अनुभव करने लगे थे। इस मुकद्दमे में एक बार वे विकट परिस्थिति में फंस गये। मामला हाईकोर्ट में पेश था। अभियुक्तों ने कुछ बातों से अपना असंतोष प्रकट करने के लिये दरखास्त दे दी कि उन्हें इस अदालत पर विश्वास नहीं है। यह काम अदालत की मानहानि समझा गया। जजों ने इस दरखास्त से खिन्नता प्रकट की। श्यामलाल जी का ऐसी दरखास्त पेश करने के लिये अदालत ने क्षमा मांगने की आज्ञा दी। लाला जी क्षमा मांगने के लिये तैयार न हुए। हाईकोर्ट के जजों ने लाला श्यामलाल पर अदालत की मानहानि का अभियोग चला दिया। इस मामले में सज़ा की मियाद तब तक हो सकती थी जब तक कि श्यामलाल जी मानहानि करने के लिये क्षमा न मांग लेते।

इस मामले से पंजाब के कानूनी और अदालती संसार में हलचल मच गयी। जिस दिन श्यामलाल जी का यह मामला हाईकोर्ट में पेश हुआ, लाहौर

की सभी कचहरियों में काम स्थगित था। सभी वकील हाइकोर्ट पहुँचे। ला कालेज भी बन्द रहा। लाहौर के सभी बड़े वकीलों ने, श्यामलाल जी से इस दरख्वास्त को नेकनीयती में हो गई चूक बताकर हाइकोर्ट के सम्मुख खेद प्रकट कर देने का अनुरोध किया पर लाला जी तय्यार न हुए। पेशी के लिये हाइकोर्ट जाते समय अपना बिस्तर बांध कर साथ लेते गये कि वहीं से जेल चले जायेंगे। हाइकोर्ट में उन्होंने अपने व्यवहार पर खेद प्रकट करने से इन्कार कर इस बात का आग्रह किया कि उनके मवक्किल नेकनीयत, सच्चे और आत्माभिमानी व्यक्ति हैं और उनकी भावना अदालत के सम्मुख ईमानदारी से रखना उनका कर्तव्य है। परिणाम की आशंका से सभी चिंतित थे। ऐसी अवस्था में हाइकोर्ट ने ही समझदारी से काम लिया। लाला श्यामलाल की नेकनीयत और ईमानदारी पर विश्वास कर, उन्हें भविष्य में सावधान रहने की चेतावनी देकर, मामला बरखास्त कर दिया गया।

जिस समय इन्द्रपाल जेल से छूटा बैठ भी न सकता था। उसकी टांगें और बाहें टेढ़ी हो गयी थीं। बोल भी न सकता था। जेल जाने से चार-पांच मास पहले उसका विवाह हुआ था। उसकी पत्नी जगदीश्वरी ने उसकी सेवा और इलाज शुरू किया। हकीमों के बताये नुसखे खिलाती और दिन-दिन भर मालिश करती रहती। मैं १६३८ में छूट कर १६३६ में प्रेस कर्मचारियों की कान्फ्रेंस के लिये लाहौर गया तो इन्द्रपाल खाट पर लेटे-लेटे बातचीत करने लायक हो गया था। वही पुरानी साहसपूर्ण बेपरवाही। देखते ही चिल्ला उठा—"अरे अरे, नून तम्बाकू बेचने वाले का बेटा आ गया!"............ अरी जगदीश्वरी, आटा-वाटा कुछ है तो छिपा दे, नहीं तो रोटी खिलानी पड़ जायगी।"

मेरे अनुरोध से वह और जगदीश्वरी लखनऊ आ गये। बहुत दिन तक बिजली-भाप से इलाज होता रहा। वह कुछ देर तक बैठने और लकड़ी पकड़ लंगड़ा कर चलने भी लगा। मैंने अपनी रिहाई के बाद १६३८ नवम्बर में एक मासिक पत्रिका विप्लव का प्रकाशन आरम्भ किया था। १६३६ अक्टूबर में विप्लव का प्रकाशन हिन्दी और उर्दू दोनों में हो रहा था। इन्द्रपाल उर्दू में अनुवाद कर किताबत भी करता जाता पर कुछ ही समय काम करने से सिर चकराने लगता था। १६४१ में अंग्रेज सरकार ने विप्लव से बारह हजार की जमानत मांगकर पत्र का प्रकाशन स्थगित कर दिया। इन्द्रपाल लाहौर लौट गया। कुछ और कातिबों को मिलाकर सहयोग से किताबत का काम चलाने

लगा। अवस्था काफी सुधर गयी थी। लकड़ी पकड़े धीमे-धीमे मील डेढ़ मील चल आता था। एक लड़का और लड़की भी हुए। बातचीत से अपने विचारों का प्रचार भी करता ही रहता था। उसने दो छोटे-छोटे पैम्फलेट भी उर्दू में प्रकाशित किये। १९४७ में पंजाब विभाजन से उसे फिर बहुत भयंकर मानसिक आघात लगा। लाहौर से दिल्ली तो पहुँच गया परन्तु वहां हस्पताल में उसकी मृत्यु हो गयी। जगदीश्वरी दिल्ली के एक स्कूल में सिलाई सिखा कर बच्चों को अपनी हिम्मत से पढ़ा लिखा रही थी। अब वह चंदौसी में है।

आज़ाद का व्यक्तित्व

मेरे रूस जाने के सम्बंध में दल के दूसरे साथियों से बात करना भी आवश्यक था, विशेषकर सुरेन्द्र पांडे से। रूस जाने की बात पांडे को इतनी पसन्द आयी कि वह भी जाने के लिये तैयार हो गया। उन दिनों इलाहाबाद, कटरे में लिये एक मकान में हम लोग प्रायः ही बहस में लगे रहते थे। बहस अपने उद्देश्यों के सैद्धान्तिक पक्ष पर तो होती ही थी, उसके साथ ही रूस जाने की उपयोगिता और राउण्ड टेबल कान्फ्रेंस द्वारा समझौते के सम्बंध में भी। यह पहला ही अवसर था कि अंग्रेज़ सरकार ने कांग्रेस का सार्वजनिक प्रभाव स्वीकार कर परामर्श के लिये कांग्रेस को निमंत्रण दिया था। सरकार के व्यवहार से कांग्रेसियों में ऐसी भावना पैदा हो गयी थी कि अंग्रेज सरकार स्वराज्य दे ही रही है। हम लोगों को भी ऐसा ही जान पड़ रहा था कि कांग्रेस और अंग्रेज़ सरकार में तो समझौता हो ही जायगा। हमारी स्थिति क्या होगी? क्या हम फिर लड़ते ही रहेंगे?

आज़ाद को अंग्रेज़ सरकार से समझौते का विचार भी असह्य था। उनका कहना था कि अंग्रेज़ जब तक इस देश में शासक के रूप में रहें, हमारी उनसे गोली चलती ही रहनी चाहिये। समझौते का कोई अर्थ नहीं है। अंग्रेज़ से हमारा एक ही समझौता हो सकता है कि वह अपना बोरिया-बिस्तर सम्भाल कर यहाँ से चल दे। यही भावना १९४२ में 'क्विट इंडिया' मांग या 'भारत छोड़ो' नारे में प्रकट हुई थी। मैं और सुरेन्द्र भी सिद्धान्त रूप से आज़ाद की बात मानते थे परन्तु यह नहीं चाहते थे कि कांग्रेसी नेताओं को अपना शत्रु बना लें। अभिप्राय था, देखो तो सही समझौता होता कैसा है? यदि कांग्रेस उससे संतुष्ट हो जाती है तो हमें व्यक्तिगत रूप से फरार बने रह कर भी समझौते की प्रतिक्रिया और परिस्थिति देखकर चलना होगा। यह सब सैद्धान्तिक

बात करते समय, अपने व्यक्तित्व की चिन्ता न करके भी यह खयाल आता ही था कि आखिर व्यक्तिगत रूप से हम क्या करेंगे, हमारा क्या होगा ?

मैं किसी समय आज़ाद से मज़ाक करने लगता—"भैया घबराते क्यों हो ! कांग्रेस और अंग्रेज़ सरकार का समझौता हो जायगा तो फिर हमें फरार रहने की ज़रूरत नहीं होगी। तुम्हारा नाम खूब प्रसिद्ध हो चुका है। कांग्रेसी इतना तो सोचेंगे कि तुम थानेदार की पगड़ी और वर्दी में खूब जंचोगे। तुम्हें थानेदारी मिल ही जायगी।"

आज़ाद को इस बात से चिढ़ आती कि मैं उन्हें केवल थानेदारी के ही लायक समझता हूँ। क्रोध दिखलाते—"चल साले, तू बड़ा अफलातून है ! तू क्या बन जायगा ?"

मैं मज़ाक जारी रखता—"तुम थानेदार बनोगे तो हम लोगों की सिफ़ारिश नहीं करोगे ? मैं कम से कम हेड कान्स्टेबल बनूंगा।" और पांडे की ओर संकेत कर कहता—क्योंकि पांडे के हाथ में कोई न कोई पुस्तक थमी ही रहती थी—"पांडे के लिये तुम सिफ़ारिश कर देना यह मिडिल स्कूल का हैडमास्टर बन जायगा।" मैं और पांडे दोनों अभी तक जिन्दा हैं। कांग्रेसी सरकार की कृपा से तो हम हैड कांस्टेबल और मिडिल स्कूल के मास्टर भी न बन सके।

गोलमेज़ द्वारा समझौता हो जाने की सम्भावना की मानसिक उथल-पुथल के कारण हम लोग इलाहाबाद कटरे के मकान में एक तरह से शिथिलता के दिन बिता रहे थे या आराम से ही रह रहे थे। समय १९३१ जनवरी का ही था परन्तु हवा में फागुन का फर्राटा और सुहानापन आ गया था। सड़कों पर सूखे पत्ते झड़-झड़कर उड़ा करते थे। मुझे खूब याद है कि हम लोग कहा भी करते थे कि इस बार हवा में जाने क्या मस्ती भरी है। मकान की छत खपरैल की थी, जैसी कि इलाहाबाद में साधारण स्थिति के मकानों की होती थी। खपरैल की सांधों से हवा आती रहती और छत के ऊपर के नीम की पत्तियां और धूल भी गिरती रहती। हम लोग दरी या कम्बल बिछाये कुछ पढ़ा करते या समझौते की सम्भावनाओं और हानि-लाभों पर बात करते रहते। एक पतीला था उसमें खिचड़ी बना लेते। कभी-कभी इसी खिचड़ी में मांस भी डाल लेते। आज़ाद ब्राह्मणत्व की रक्षा के लिये मांस के टुकड़ों को गाली दे, परे हटाकर शेष का आहार कर लेते। आज़ाद मांस न खाना चाहते थे पर दूसरे साथी खाना चाहते थे। मध्यम मार्ग यही था कि वे मांस के टुकड़े हटाकर शेष खिचड़ी खा लेते। आज़ाद को मांस पसंद नहीं था पर छूत का भी डर

नहीं था। आज़ाद ने सुबह डण्ड, सपाटे लगाना और साथियों से पंजा लड़ाना भी शुरू कर दिया।

पांडे एक डब्बा च्यवनप्राश ले आया था। रात सोते समय डिब्बा आज़ाद के हाथ पड़ गया। पूछा—"अबे इस में यह काला-काला क्या है?"

पांडे ने बताया—"खांसी की दवा है।"

मैंने चुटकी ली—"भैया बहुत पौष्टिक और ताकत की दवा भी है।"

आज़ाद ने सन्देह प्रकट किया—"साला मल्हम सा लगता है।"

मैंने बताया—"स्वाद भी बहुत अच्छा है।"

"सच?"— आज़ाद ने पूछा।

थोड़ा-सा चाट कर देखा और बोले—"साला है तो मज़ेदार"—और पूरा डिब्बा खा गये।

पांडे कहता रहा—"भैया, दवाई है। नुकसान कर जायगी।"

"चल! चल!"—आज़ाद ने एक न सुनी।

अगले दिन सुबह जब बहुत अधिक दवाई खा जाने का बुरा परिणाम सामने आया तो हम दोनों पर बहुत बिगड़े—"धत्त, क्या वाहियात चीज़ खिलादी!....कहते थे ताकतवर है........।" जितना ही हम हंसते उतना ही आज़ाद दवाई की निन्दा कर उसे गाली देते जाते।

गोलमेज़ कान्फ्रेंस की आशाओं से देश के राजनैतिक वातावरण में जो प्रभाव पड़ा था उसके कारण हम लोगों को जान पड़ने लगा कि अंग्रेज सरकार से लड़ने का काम शायद स्थगित कर देना पड़ेगा। यह भी खयाल आने लगा कि उस अवस्था में हमारा भावी जीवन क्या और कैसा हो सकेगा? ऐसी मानसिक अवस्था में आज़ाद कानपुर चुन्नीगंज के मकान में आकर रात में बहुत देर तक अपने गत जीवन की बातें सुनाते रहते। कुछ आज़ाद से सुनी चर्चा और कुछ आज़ाद के बहुत समीपी साथी भगवानदास माहौर और फरारी में उन्हें प्रायः स्थान देने वाले मास्टर रुद्रनारायण जी से सुनी बातों के आधार पर विश्वास है कि आज़ाद का जन्म स्थान मध्यभारत की झाबुआ तहसील का भावरा ग्राम था। उस समय यह गाँव अलीराजपुर रियासत के अन्तर्गत था। आज़ाद के पिता का नाम पण्डित सीताराम तिवारी था और माता जगरानी देवी थीं। तिवारी जी की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी इसलिये उन्नाव

जिले में अपने बहनोई शिवनन्दन और रामप्रसाद मिश्र के यहाँ रहते थे। बहुत निस्पृह और निष्ठावान ब्राह्मण थे। स्वभाव काफी तीखा और किसी की बात न मानने वाला था। किसी बात से चिढ़कर उन्नाव छोड़ अलीराजपुर चले गये थे। वहाँ उन्होंने रियासत के एक बाग की रखवाली का काम ८-१०) मासिक पर कर लिया था। उस समय ऐसी ही तनख्वाहें हुआ करती थीं। अन्न-वस्त्र भी सस्ता था।

बचपन में आज़ाद भी बच्चे ही तो थे। खाने-खेलने का शौक भी था ही। खाने में उन्हें गुड़ बहुत पसन्द था और खेल था, देसी बारूद भर कर खिलौने की तोप चलाने का। पर इस खेल के लिये पैसे काफी न मिलते थे। एक दिन आज़ाद ने बाग को अपना ही समझ, कुछ फल तोड़कर गुड़ और बारूद के लिये बेच लिये। पिता की दृष्टि में यह अक्षम्य अपराध था। आज़ाद पर इतनी मार पड़ी कि मां का कलेजा दहल गया और आज़ाद के स्वाभिमान ने उस घर में रहना ही स्वीकार नहीं किया। पढ़ने की भी इच्छा थी। माँ ने बहुत यत्न से बचा कर रखी हुई अपनी पूंजी, ग्यारह रुपये आजाद को दे दी। आज़ाद भाग कर विद्या के केन्द्र काशी में पहुँच गये। वहाँ वे एक छत्र में रहकर लघुकौमुदी और अमरकोष रट रहे थे कि कांग्रेस के सविनय कानून भंग आन्दोलन ने उन्हें आकर्षित कर लिया। उस समय उनकी उमर तेरह-चौदह वर्ष रही होगी।

कांग्रेस के सविनय कानून भंग आंदोलन में गिरफ्तार होकर जब वे अदालत में पेश किये गये तो उनके हाथ अभी इतने छोटे थे कि बन्द हथकड़ियों में से निकल आते थे। आज़ाद हथकड़ियों से हाथ निकाल-निकाल कर पुलिसवालों को चिढ़ाने में मजा लेते थे। परिणाम में उनके दोनों हाथों को मिलाकर हथ-कड़ी जड़ दी गयी। अदालत में मैजिस्ट्रेट ने उनकी अवज्ञा की—"अभी हाथ भर का तो है नहीं चला है आन्दोलन करने! भाग जा।" आज़ाद ने मैजि-स्ट्रेट को फटकार दिया। कानूनन आज़ाद को उस आयु में जेल की सज़ा नहीं दी जा सकती थी। इसलिये ब्रिटिश न्याय की रक्षा के लिये तैनात मैजिस्ट्रेट ने उन्हें जेल में ले जाकर बारह बेत लगाकर छोड़ देने की सजा दे दी। भुक्त-भोगी जानते हैं कि यह सज़ा छः मास की जेल की अपेक्षा कहीं कड़ी थी। मैजिस्ट्रेट का विचार था कि इतने दण्ड से छोकड़े को सुबुद्धि आ जायगी।

अदालत से मिली बारह बेतों की सजा का अभिप्राय कुछ लोग नहीं भी समझ सकते हैं। जैसे स्कूल में शरारत करने पर बेत लगा दिये जाते थे, वही
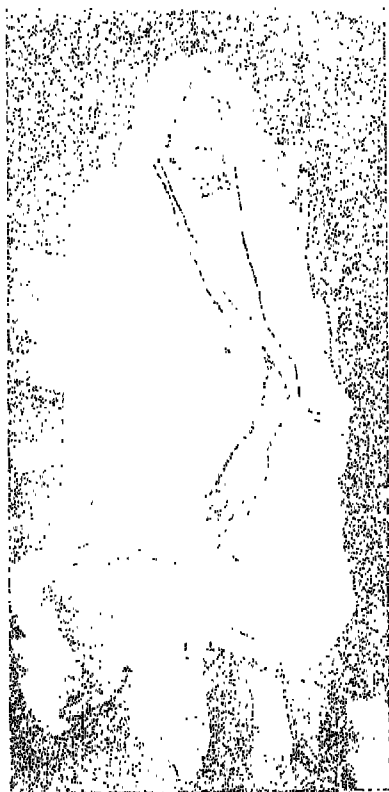
शहीद चन्द्रशेखर आज़ाद
की
माता जगरानी देवी
और
भाबरा में उनकी झोंपड़ी

अभिप्राय अदालत से दी जाने वाली बेंतों की सजा का नहीं होता। अभि-युक्त को जेल में ले जाकर पूरे कपड़े उतार दिये जाते हैं। उसे एक टिकटिकी अर्थात् काठ के आड़े खड़े चौखटे के साथ खड़ा कर हाथ-पाँव टिकटिकी से बांध दिये जाते हैं। चूतड़ों और पीठ पर दवाई से भीगा मलमल का एक टुकड़ा डाल दिया जाता है। बेंत पानी में भीगे पड़े रहते हैं। बेंत लगाने का काम सधा हुआ अभ्यस्त भंगी करता है। जेलर के गिनती पुकारते जाने पर भंगी खूब हाथ फैलाकर, पूरा पैंतरा लेकर बेंत को लहरा-लहरा कर अभियुक्त के शरीर पर मारता है। पहली ही चोट में पीठ और चूतड़ों से खून उछल आता है। तेरह-चौदह वर्ष के आज़ाद को इस प्रकार बारह बेंत लगाये गये। आज़ाद हर बेंत की चोट पर बन्देमातरम! और इन्कलाब ज़िन्दाबाद! चिल्लाता रहा।

आज़ाद बेंतों की सजा पाकर जेल से छूटे तो आन्दोलन में और भी तत्परता से भाग लेने लगे। उसी समय उनका सम्पर्क काकोरी दल के लोगों मन्मथनाथ गुप्त आदि से हो गया। काकोरी की प्रसिद्ध साहसपूर्ण रेल डकैती में सरकारी खजाना लूटने में उन्होंने भाग लिया था। गिरफ्तारियाँ आरम्भ होने पर फरार हो गये। लड़कपन में भी वे खूब चुलबुले और फुर्तीले थे। इसलिये साथी उन्हें क्विकसिल्वर (पारा) के उपनाम से पुकारते थे। रामप्रसाद बिस्मिल के साथ उन्होंने कई राजनैतिक डकैतियों में भाग लिया था। क्रान्ति-कारी डकैती में न तो स्त्रियों पर हाथ उठाते थे न उनके शरीर के गहने छीनते थे। ऐसे ही अवसर पर एक ठकुराइन अपने एक सन्दूक पर जमकर बैठ गयीं। आज़ाद ने उसे कहा—"अम्मा एक तरफ हट जाओ।" ठकुराइन के बात न मानने पर भी आज़ाद ने उस पर न चोट की और न धक्का देकर हटाया। चतुर ठकुराइन ने इन लोगों को जाते देख आज़ाद की कलाई पकड़ ली। आज़ाद भद्रता के विचार से उससे जोर-जबरदस्ती न कर मुंह ताकते खड़े रह गये। जब सब साथी बाहिर आ गये बिस्मिल ने आज़ाद को न पाकर भीतर जाकर देखा। आज़ाद भद्रता के नाते बुढ़िया के कैदी बने खड़े थे। बिस्मिल ने ठकुराइन की कलाई पर जोर से हाथ मार कर उन्हें छुड़ा कर डांटा—"अच्छे गधे बन रहे थे तुम! मरवाओगे सब को!" तब कहीं उन्हें मुक्ति मिली।

बचपन में पढ़ पाने की इच्छा के अतिरिक्त उन्होंने जीवन में कभी कोई व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा नहीं बनायी। उस समय की अपनी समझ-बूझ और उस समय की परम्परा में आस्था के कारण पढ़ने का अर्थ हुआ था संस्कृत।

जिसका आधुनिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन में कोई विशेष उपयोग दिखाई नहीं दिया था। एक बार राजनैतिक चेतना उत्पन्न हो जाने के बाद देश की मुक्ति के लिये विदेशी शासक से लड़ने के अतिरिक्त कोई और इच्छा भी नहीं थी। उनकी कल्पना में अपने जीवन की परिणिति यही थी कि किसी न किसी दिन विदेशी सरकार की पुलिस से लड़ते हुए मारे जायेंगे। यह भी खयाल नहीं था कि गिरफ्तार हो जायेंगे तो अदालत में अपने बयानों से ही लड़ेंगे। बहुत स्पष्ट और दृढ़ इरादा था कि लड़ाई में मरना ही है। सदा ही कहा करते थे—"गिरफ्तार होकर अदालत में हाथ बांध बंदरिया का नाच मुझे नहीं नाचना है। आठ गोली पिस्तौल में हैं और आठ का दूसरा मैगज़ीन है। पन्द्रह दुश्मन पर चलाऊँगा और सोलहवीं यहाँ।" और वे अपनी पिस्तौल की नली अपनी कनपटी पर छुआ देते थे।

उन दिनों सभी ओर से समझौता हो जाने की बातों का असर उन पर भी कैसे न होता? उस रात वे कहने लगे—"कांग्रेस ने अगर समझौता कर ही लिया तो मैं पेशावर से परे सरहद पार निकल जाऊँगा। वज़ीरी और अफ़रीदी अंग्रेज़ों से कभी समझौता नहीं कर सकते। उन्हीं लोगों के साथ अंग्रेज़ों से लड़ूंगा।……सोहन, ऐसे समय आदमी को अकेलापन खलता है। तुमने और हुइय्यां (प्रकाशवती) ने अच्छा किया कि साथी बन गये। जीवन की हर हालत का साथ तो स्त्री-पुरुष में ही जम सकता है। मैं अब अगर सोचूं भी तो ऐसी स्त्री है कहाँ? दीदी (सुशीला) को ही देखो, क्या मरगिल्ला सा जिस्म है। दिमाग ही को लेकर कोई क्या करेगा? अलबत्ता भाबी है कुछ, पर वह भी नहीं……। मैं तो ऐसी स्त्री से शादी करना चाहता हूँ कि कांग्रेस वाले अंग्रेजों से समझौता कर भी लें तो हम सरहद पार चले जायँ। दोनों के कंधों पर राइफलें हों और एक-एक बोरी कारतूस। जहाँ घिर जायें, वह राइफल भर-भर कर देती जाय और मैं दन-दनादन चलाता जाऊँ। बस इसी तरह समाप्त हो जायें।

एक समय बल्कि १९२८ तक आज़ाद की धारणा थी कि क्रान्तिकारियों के लिये ब्रह्मचर्य का ही मार्ग उचित है। स्त्री का चुम्बक केवल उलझन और परेशानी का ही कारण होता है। मज़ाक में 'स्त्री' के लिये पर्यायवाची शब्द उन्होंने 'चुम्बक' ही बना रखा था। यों एक समय आज़ाद संस्कृत को ही सम्पूर्ण विद्या समझते थे परन्तु अनुभव और मानसिक विकास से उनका दृष्टिकोण विस्तृत हो गया था। ऐसे ही स्त्री के सम्बंध में भी आज़ाद की धारणा

बहुत बदल गयी थी। वीरभद्र से नाराज़गी में प्रायः ही कहते थे—"साला जोरू को पर्दे में ऐसे बन्द रखता है जैसे वह इंसान नहीं, चोरी की चीज़ हो।"

आज़ाद ने अपनी फरारी के काफ़ी दिन झांसी के बहुत योग्य मूर्तिकार मास्टर रुद्रनारायण जी के घर बिताये थे। उस घर पर आज़ाद को इतना विश्वास था कि उन्होंने एकमात्र फोटो मास्टर साहब के आग्रह पर उनके यहाँ ही खिंचवाया था। कारण यह था कि मास्टर साहब आज़ाद की मूर्ति बनाना चाहते थे। मूर्ति वे बना चुके हैं। इस मूर्ति को वे अपनी विशेष निधि समझते हैं।

आज़ाद प्रायः ही मास्टर साहब से झगड़ते कि वे भाबी को सार्वजनिक जीवन में काम करने का समय नहीं देते। झांसी में पुलिस की सरगर्मी अधिक हो जाने पर संदेश भेजने और मंगवाने का काम भी वे प्रायः गुनिया महरी से ही लेते थे। गुनिया का यौवन और रूप-रंग अच्छा होने के कारण—जैसा कि प्रायः होता है लोग उसके सम्बंध में बातें बनाने से भी न चूकते थे। परन्तु आज़ाद को गुनिया की ऐसी आलोचना से कोई मतलब न था। वे कहते थे—"......चाहे जो कहें, हम जानते हैं, वह दगाबाज़ नहीं भरोसे की है इसलिये सच्चरित्र है...." सच्चरित्र का अर्थ वे केवल यौन सम्बंधों तक ही सीमित नहीं मानते थे। निष्ठा, साहस, निर्लोभ आदि का महत्व उनकी दृष्टि में कहीं अधिक था।

वैशम्पायन ने आज़ाद के नैतिक विचारों पर एक लेख में यह लिखा था कि आज़ाद दल के लोगों का स्त्रियों से सम्पर्क और दल में स्त्रियों का सम्मिलित होना दल के लिये हानिकारक समझते थे। वैशम्पायन के अनुसार आज़ाद कहते थे—"स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः...." आज़ाद को इतना मूढ़ और संकीर्ण विचार समझना उनके साथ घोर अन्याय है। आज़ाद में इतनी बुद्धि थी कि वे पुरुषों और स्त्रियों के चरित्रों को सामाजिक परिस्थितियों का ही परिणाम समझते थे। स्त्रियों और पुरुषों के चरित्र एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। समाज में पुरुष की प्रधानता होने पर स्त्री के चरित्र की शिथिलता पुरुष की उच्छृङ्खलता का ही परिणाम होगी। स्त्री को यदि पुरुष के साथ कभी धोखा करना पड़ता रहा है तो स्त्री के ऐसे व्यवहार के लिये पुरुष का दमन ही उत्तरदायी था। आज़ाद की यह धारणा कभी नहीं थी कि स्त्रियों को सदा दमन और संदेह की कैद में रखा जाये। पुरुष यदि स्त्रियों के प्रति आकर्षित होकर असंयम का व्यवहार करते हैं तो उसके लिये स्त्रियों को उनके स्वाभाविक सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक अधिकारों

से वंचित कर दिया जाये, यह आज़ाद नहीं कह सकते थे। आज़ाद इतना भी समझते थे कि यदि स्त्री का आकर्षण दल के किसी साथी को पथ-भ्रष्ट कर सकता है तो स्वभाव की कायरता, मृत्यु का भय, धन का लोभ और व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा या ईर्षा उससे कहीं अधिक नीचा गिरा दे सकती है। स्त्री की दृष्टि में आदर पाने की इच्छा पुरुष को साहस भी दे सकती है। पुरुष यदि पथभ्रष्ट होता है तो इसका दण्ड स्त्री को नहीं देना चाहिये।

वैशम्पायन ने 'नया समाज' के अपने लेख में आज़ाद के जीवन की एक घटना को अतिशयोक्ति से चित्रित कर बताया है कि आज़ाद इस अनुभव के कारण स्त्रियों को अविश्वास के योग्य समझते थे। यह तो हुई एक घटना परन्तु आज़ाद ने अपने जीवन में कायर, लम्पट और विश्वासघाती स्त्रियाँ तो एक दो ही देखी होंगी पुरुष कई देखे थे। ऐसी अवस्था में वे पुरुषों को ही दल के कार्य के योग्य कैसे मान सकते थे। बम्बई लैमिंगटन रोड की घटना में दुर्गा भाबी ने संकेत पाते ही भरी भीड़ में सरे बाजार गोली चला दी। परन्तु उस घटना की योजना के लिये जिम्मेवार पुरुषों की निष्ठा या साहस की कमी से बात कुछ भी नहीं बनी अथवा स्वयं वैशम्पायन के कानपुर में रिवाल्वर जेब में होते हुए भी, गिरफ्तारी के समय कुछ न कर सकने से आज़ाद किस परिणाम पर पहुँचे होंगे?

आज़ाद की विद्वता और विचारधारा के सम्बंध में भी बहुत विवाद चला है। असल बात तो यह है कि आज़ाद 'हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातन्त्र संघ' के सैद्धान्तिक नेता नहीं, सैनिक नेता थे। स्कूल-कालिज की शिक्षा का अवसर उन्हें मिला ही नहीं था। पुस्तकें पढ़ने की अपेक्षा दूसरों से सुनकर ही बात समझ सकते थे परन्तु ग्राह्यशक्ति और बुद्धि काफ़ी तीक्ष्ण थी। बुद्धि तीक्ष्ण होने के साथ ही स्वभाव की सरलता थी। इसलिये जब तक पहले से कारण न हो, आदमी को पहचानने में ग़लती भी कर जाते थे। प्रवृत्ति सैनिक होने का मतलब यह नहीं कि यह भी न समझते हों कि अपना जीवन किस बात के लिये बलिदान कर रहे थे। कोई भी क्रान्तिकारी प्रयत्न सैद्धान्तिक सूत्र के बिना चल ही नहीं सकता। हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातन्त्र संघ का सैद्धान्तिक सूत्र 'समाजवादी' और 'प्रजातन्त्र' शब्दों से स्पष्ट हो जाता है। आज़ाद दल के इस सैद्धान्तिक लक्ष्य से खूब परिचित थे, इतने कि इसके लिये बलिदान हो जाने में उन्हें संतोष था। हिसप्रस ने १९३० जनवरी में अपने राजनैतिक सिद्धान्त की घोषणा 'बम का दर्शन' (Philosophy of the Bomb)

नामक पत्र में की थी। आज़ाद ने बहुत ध्यान से इस पत्र के एक-एक शब्द को अधमुंदी आंखों और दांतों से मूंछें कांटते हुए सुनकर बहुत संतोष से इस पर हस्ताक्षर किये थे। इस पत्र में हमने अपना मत साम्प्रदायिक, रूढ़िवाद की कड़ियों को तोड़कर श्रेणीहीन समाज में श्रम करने वालों के प्रजातंत्र शासन के रूप में प्रकट किया था। यही आज़ाद का राजनैतिक सिद्धान्त था। आज़ाद समाजवादी लक्ष्य को स्वीकार करते थे। इसका अर्थ यह नहीं कि वे समाजवाद के मूल विचार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की व्याख्या कर सकते थे अथवा विचारों के पार्थिव आधारों की समीक्षा कर सकते थे। इतना तो उस समय हम में से कोई भी नहीं कर सकता था परन्तु यह हम सभी जानते थे कि हमारा लक्ष्य अपने देश के लिये ऐसी स्वतन्त्रता है जिसमें देश के सभी व्यक्तियों को जीविका उपार्जन और जीवन के विकास का समान अवसर हो और सभी स्त्री-पुरुष न केवल अपने श्रम का पूरा फल पा सकें बल्कि देश के सब लोग अपनी क्षमता के अनुसार परिश्रम करके अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सकने का अवसर पायें।

सैद्धान्तिक रूप से वे हम अन्य सब लोगों की ही भांति निरीश्वरवादी थे अर्थात् यह नहीं मानते थे कि व्यक्ति और समाज के जीवन का आधार ईश्वरीय निर्देश और न्याय है। हमारे दल की सैद्धान्तिक दिशा क्या थी, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण १९३५-३७ में अन्दमान की जेल में मिल गया। उस समय वहाँ हमारे दल के बहुत से साथी अजय घोष, विजयकुमार, शिववर्मा, जयदेव कपूर, महावीर, धन्वन्तरी इत्यादि जमा थे। उनके साथ ही बंगाल के अनुशीलन और युगान्तर दलों के भी लोग मौजूद थे। जेल में उन्हें अध्ययन और विचार का पर्याप्त अवसर था। उस समय उन लोगों ने सम्मिलित रूप से अपने आपको मार्क्सवादी घोषित कर भारती कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम को अपना लिया। आज़ाद और भगतसिंह यदि आज जिन्दा होते तो न तो उनके लिये विधान सभा में कांग्रेसी दल में स्थान होता और न ही वे किसी पूंजीपति संस्था की संरक्षकता में स्थान स्वीकार कर सकते थे।

१९३१ के शुरू की बात कह रहा था -- एक दिन आज़ाद गोलमेज़ कान्फ्रेंस द्वारा समझौते की आशाओं और आशंकाओं के सम्बंध में पंडित जवाहरलाल नेहरू से बात करने आनन्द भवन गये। कुछ ही दिन पूर्व पंडित मोतीलाल जी का देहान्त हो चुका था। आज़ाद एक बार मोतीलाल जी से भी मिल चुके थे। पंडित मोतीलाल जी से मिलने का प्रयोजन सैद्धान्तिक,

राजनैतिक बातचीत नहीं था। मोतीलाल जी बहुत ज़िन्दादिल आदमी थे। स्वयं कांग्रेस के कार्यक्रम को अपनाकर भी क्रान्तिकारियों की सहायता करना वे नैतिकता के विरुद्ध नहीं समझते थे। काकोरी षड़यन्त्र के मुकद्दमे में अभियुक्तों को कानूनी सहायता पहुँचाने के लिये उन्होंने बहुत कुछ किया था। हो सकता है आज़ाद की बात सुनकर स्वयं पंडित जी ने ही उन्हें मिलने के लिये बुला लिया हो।

हम लोगों को देख पाने की उत्सुकता लोगों में रहा ही करती थी। मुझे याद है आज़ाद की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद इलाहाबाद में शिवमूर्तिसिंह जी ने मुझसे अनुरोध किया कि मैं जानस्टनगंज के एक मकान में इतने बजे कुछ मिनिट के लिये आ जाऊँ। बुलाने का कारण उन्होंने कोई बताया नहीं पर उन पर विश्वास था इसलिये मैं चला गया। शिवमूर्तिसिंह जी दो व्यक्तियों के साथ आये। दोनों ने दूर से ही प्रणाम किया और चले गये। मुझे इससे बहुत उलझन सी अनुभव हुई। बाद में शिवमूर्तिसिंह जी से पूछा तो उन्होंने बताया कि अमुक राजा साहब केवल दर्शन करना चाहते थे। परन्तु पंडित मोतीलाल जी ने ऐसा निरर्थक व्यवहार नहीं किया। आज़ाद को बुलाकर खाना खिलाया था और बातचीत भी की। उस मुलाकात के समय पंडित जवाहरलाल जी की छोटी बहिन कृष्णा भी थीं। आज़ाद कृष्णा के उर्दू उच्चारण की नकल करके भी सुनाया करते थे। पं० नेहरू ने आज़ाद से मुलाकात के विषय में अपनी आत्मकथा में स्वयं भी ज़िक्र किया है कि आज़ाद:—
"....मुझसे मिलने के लिये इसलिए तैयार हुआ था कि हमारे जेल से छूट जाने से आमतौर पर आशाएँ बंधने लगी थीं कि सरकार और कांग्रेस में कुछ न कुछ समझौता होने वाला है। वह जानना चाहता था कि अगर कोई समझौता हो तो उसके दल के लोगों को भी कोई शान्ति मिलेगी या नहीं? क्या उनके साथ तब भी विद्रोहियों का सा बर्ताव किया जायगा? जगह-जगह उनका पीछा उसी तरह किया जायगा।....उनके सिरों के लिये इनाम घोषित होते ही रहेंगे? और फांसी का तख्ता हमेशा लटकता ही रहेगा, या उनके लिये शांति के साथ काम-धंधे में लग जाने की भी कोई सम्भावना होगी? उसने कहा कि खुद मेरा तथा मेरे दूसरे साथियों का यह विश्वास हो चुका है कि आतंकवादी तरीके बिलकुल बेकार हैं, उससे कोई लाभ नहीं है। हां, वह यह मानने के लिये तैयार नहीं था कि शांतिमय साधनों से ही हिन्दुस्तान को आज़ादी मिल जायगी। उसने कहा, आगे कभी सशस्त्र लड़ाई का मौका आ सकता है

मगर यह आतंकवाद न होगा।"* इसी प्रसंग में पंडित जी आगे लिखते हैं—"मुझे आज़ाद से यह सुनकर खुशी हुई थी और बाद में उसका सुबूत भी मिल गया कि आतंकवाद पर से उन लोगों का विश्वास हट गया है।..."अवश्य ही इसके यह माने नहीं हैं कि पुराने आतंकवादी और उनके नये साथी अहिंसा के हामी बन गये हैं या ब्रिटिश सरकार के भक्त बन गये हैं। हां अब वे आतंकवादी भाषा में नहीं सोचते। मुझे तो ऐसा मालूम होता है उनमें से बहुतों की मनोवृत्ति निश्चित रूप से फ़ासिस्ट बन गयी थी।"*

नेहरू जी की 'मेरी कहानी' से इस उद्धरण की चर्चा करते समय यह याद रखना जरूरी है कि पुस्तक ब्रिटिश शासनकाल में लिखी गयी थी। सब बातें वे स्पष्ट लिख भी नहीं सकते थे। यह पुस्तक पंडित जी ने सम्भवतः १६३४ या ३६ में लिखी होगी। आज़ाद उस समय शहीद हो चुके थे। नेहरू जी ने इसी के कुछ दिन बाद हुई उनकी और मेरी मुलाकात की बात नहीं लिखी। याद न रहने की कोई सम्भावना नहीं थी क्योंकि १६३८ में मेरी उनसे भुवाली में भेंट हुई तब उन्हें वह बात याद थी। मुझे याद है यह पुस्तक पहली बार अंग्रेज़ी में १६३७ में मैंने नैनी जेल में पढ़ी थी, तब भी बात मुझे खटकी थी। खास कर नेहरू जी का हम लोगों की मनोवृत्ति को फासिस्ट बताना।

आज़ाद ने नेहरू जी से मुलाकात के बाद जब इस घटना की बात हम लोगों को कटरे के मकान में सुनाई तो उनके भी होंठ खिन्नता से फड़फड़ा रहे थे और उन्होंने कहा था—"साला हमें फासिस्ट कहता है........." आज़ाद का अभिप्राय गाली देने का नहीं था। बचपन की संगति के प्रभाव से कुछ शब्द उनकी जबान पर तकिया कलाम के रूप में चढ़ गये थे। गम्भीरता में या क्रोध में गाली कभी नहीं देते थे। यों बातचीत में असावधानी से गालियां मुंह से झड़ ही जाती थीं अस्तु। मेरा विचार है कि आज़ाद ने यह नहीं कहा होगा कि मेरा तथा मेरे साथियों का विश्वास हो चुका है कि आतंकवादी तरीके बिलकुल बेकार हैं बल्कि यह कहा होगा—"हम आतंकवादी नहीं हैं, हम सशस्त्र क्रांति की चेष्टा कर रहे हैं।" यह बात पंडित जी की अगली पंक्तियों से भी स्पष्ट हो जाती है—"वह यह मानने के लिये तैयार नहीं था कि शांतिमय साधनों से ही हिन्दुस्तान को आज़ादी मिल जायगी। उसने कहा, आगे कभी सशस्त्र लड़ाई का मौका आ सकता है।" पंडित जी ने आज़ाद

* 'मेरी कहानी' पं० जवाहरलाल नेहरू, आठवां हिन्दी संस्करण, पृष्ठ २६६.

की बातों में फासिज़्म की गंध कैसे पायी, यह समझा नहीं जा सकता। फासिज़्म तो शासन की दमन पर आश्रित पद्धति है। हम लोग तो शासन करने का स्वप्न नहीं देख रहे थे। बल्कि ब्रिटिश शासन के दमन या फासिज़्म का विरोध कर रहे थे।

हि०स०प्र०स० अपना राजनैतिक और शासन सम्बंधी लक्ष्य अपने घोषणापत्र "फिलासफी आफ़ दी बम्ब" द्वारा जनवरी १९३० में स्पष्ट कर चुका था—"क्रान्तिकारियों का विश्वास है कि देश की जनता की मुक्ति केवल क्रान्ति द्वारा ही सम्भव है। क्रान्ति से हमारा अभिप्राय केवल जनता और विदेशी सरकार में सशस्त्र संघर्ष ही नहीं है। हमारी क्रान्ति का लक्ष्य एक नवीन न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था है। इस क्रान्ति का उद्देश्य विदेशी पूंजीवाद को समाप्त करके श्रेणीहीन समाज की स्थापना करना और विदेशी और देशी शोषण से जनता को मुक्त करके आत्मनिर्णय द्वारा जीवन का अवसर देना है। इसका उपाय शोषकों के हाथ से शासन शक्ति लेकर मज़दूर श्रेणी के शासन की स्थापना ही है।" यह थे आज़ाद के विचार जिन्हें पं०नेहरू ने फासिस्ट प्रवृत्ति समझ लिया। आज़ाद अंग्रेज़ी में बात नहीं कर सकते थे शायद इसीलिये नेहरू जी उनकी बात समझ नहीं पाये। आज़ाद ने नेहरू जी से बातचीत में विशेष अनुरोध यह किया था कि गांधी जी सरकार से समझौते की शर्तों में लाहौर षड्यन्त्र केस के लोगों, भगतसिंह आदि की रिहाई की बात को भी रखें। यह माँग केवल आज़ाद की नही थी बल्कि जनता की थी। नेहरू जी ने स्पष्ट इन्कार कर दिया था कि गांधी जी ऐसी शर्त नहीं रखेंगे।

यहाँ यह चर्चा भी अप्रासंगिक नहीं होगी कि लाहौर कांग्रेस में जब गांधी जी ने वायसराय की गाड़ी के नीचे विस्फोट करने वाले लोगों को कायर और उनके कार्य को जघन्य कहकर उनकी निन्दा का प्रस्ताव पेश किया था तो उस प्रस्ताव का पास हो सकना ही असम्भव जान पड़ रहा था। ऐसी अवस्था में गांधी जी ने धमकी दी थी कि यदि यह प्रस्ताव पास नहीं होगा तो वे कांग्रेस को छोड़ देंगे। ऐसे ढंग को जनवादी नहीं कहा जा सकेगा। नेहरू जी ने गांधी जी के उस संकट के समय उनका ही साथ दिया था। नेहरू जी अपनी भावना जनवादी होते हुए भी सदा ही गांधी जी के संगठित दल का ही साथ देते रहे हैं। मुसोलिनी ने 'फासिस्ती' शब्द 'दल या संगठन के शासन' के अभिप्राय से ही बनाया था। शब्द की मूल भावना और अभिप्राय से गांधी जी और नेहरू जी ही फासिज़्म के सहधर्मी रहे हैं।

चन्द्रशेखर आज़ाद की शहादत के बाद पुलिस द्वारा लिया हुआ चित्र

आज़ाद को इस बात का बहुत कलख था कि नेहरू जी ने उन्हें फासिस्ट कहा। उन्होंने कहा—"सोहन, एक दिन तुम जाकर पंडित नेहरू से मिलो।" मैंने प्रायः फरवरी के दूसरे-तीसरे सप्ताह में शिवमूर्तिसिंह जी से कह कर नेहरू जी से समय निश्चित किया और संध्या समय आनन्द भवन गया। पंडित जी समाचार पाकर बाहर आ गये। हम दोनों दीवार के साथ लगे नींबू के वृक्षों की बाढ़ के साथ-साथ टहलते हुए बात करने लगे। पंडित नेहरू ने आतंकवाद को व्यर्थ बताया। मैंने यही कहा कि हम लोग आतंकवादी नहीं हैं। हम व्यापक सशस्त्र क्रान्ति का प्रयत्न कर रहे हैं। हमारा प्रयत्न भी देश की मुक्ति के लिये संघर्ष का ही भाग है। हम सरकार के दमन से लोहा लेकर उसे बताना चाहते हैं कि तुम्हारी शस्त्र-शक्ति से भी हम भयभीत नहीं हैं। हमारा दृष्टिकोण समाजवादी है आतंकवादी नहीं। इसी प्रसंग में मैंने अनुभव प्राप्त करने के लिये रूस जाने की इच्छा का जिक्र किया और उन से आर्थिक सहायता का अनुरोध भी किया।

पंडित जी ने मुझे बताया कि मोतीलाल जी की मृत्यु के बाद से वे अपनी आर्थिक स्थिति के बारे में स्वयं ही चिन्तित हैं। सोच रहे हैं कि अपने बहुत फैले हुए खर्च को कम कर दें या आमदनी के लिये वकालत शुरू कर दें। आर्थिक सहायता देना उनके बस की बात नहीं। मैंने कहा—"ऐसे मामलों में किसी एक व्यक्ति की जेब पर तो भरोसा किया नहीं जा सकता। राष्ट्रीय काम तो सामूहिक सहायता से चलते हैं। आपका प्रभाव इस में सहायक हो सकता है।"

कुछ सोच कर नेहरू जी ने कहा—"आतंकवादी काम के लिये तो मैं कुछ भी सहायता नहीं करूंगा। हां, रूस जाने वाली बात के लिये मैं सोचूंगा।" व्यक्तिगत रूप से उन्होंने मुझे (वायसराय की ट्रेन के नीचे बम-विस्फोट का मुकद्दमा मेरे विरुद्ध होने के कारण) रूस या विदेश चले जाने की ही राय दी। उन्होंने पूछा कि इसके लिये कितना रुपया चाहिये। मैंने अनुमान से ५-६ हजार की रकम बता दी। नेहरू जी ने कहा—"इतना तो बहुत है पर जो कुछ हो सकेगा करूंगा और शिवमूर्तिसिंह की मार्फत उत्तर दूंगा।"

लौट कर मैंने बातचीत का ब्यौरा आज़ाद को बताया तो उन्हें काफ़ी संतोष हुआ। उस रात यह तय हो गया कि पहले मैं और सुरेन्द्र पांडे चौधरी रामधनसिंह द्वारा सीमान्त पर तैयार किये सूत्र से रूस चल दें। यदि कांग्रेस और सरकार के समझौते का रूप ऐसा हुआ कि उस में हमारे साथियों का

रहना असम्भव हो जाये और गांधी जी के कारण हमारे सशस्त्र आन्दोलन को भी काफ़ी समय के लिये स्थगित करना आवश्यक हुआ तो आज़ाद भी प्रकाशवती या दूसरे रूस जाना चाहने वाले साथियों सहित उसी मार्ग से आ जायंगे। प्रकाशवती से आज़ाद इस विषय में कानपुर में पहले ही बात कर चुके थे।

लगभग तीसरे दिन शिवमूर्तिसिंह जी ने मुझे पन्द्रह सौ रुपये देकर कहा कि शेष के लिये नेहरू जी प्रबन्ध कर रहे हैं। कटरे के मकान में लौट कर यह रुपया मैंने आज़ाद को सौंप देना चाहा। उन्होंने कहा—"नहीं तुम्हीं रखो।" इस विचार से कि किसी दुर्घटना से सभी रुपया एक साथ न चला जाये, पाँच सौ मैंने उनकी जेब में डाल ही दिये। उस रात प्रायः रूस जाने के सम्बंध में ही बातें होती रहीं।

हमने सोचा, बीहड़ इलाकों में से जाते समय सौ तरह की बीमारी-शीमारी की मुसीबत आ सकती है। कुछ आवश्यक दवाइयां लेते चलें। पंजाब में सर्दी ज्यादा होगी। चौक से दो स्वेटर भी खरीद लें।

आज़ाद ने कहा—"मुझे एलफ्रेड पार्क में किसी से मिलना है। साथ ही चलते हैं। तुम लोग आगे निकल जाना।"

हम तीनों एलफ्रेड पार्क के सामने से साइकलों पर जा रहे थे। एक साइ-कल पर सुखदेवराज पार्क में जाता हुआ दिखाई दिया। मैं समझ गया कि भैया को राज से मिलना है। हम दोनों से वे प्रायः अलग-अलग ही मिलते थे। भैया पार्क में चले गये और पांडे और मैं सीधे चौक की ओर।

चौक में हम लोगों ने आवश्यक दवाइयाँ ले लीं। एक दुकान से हम लोगों ने दो स्वेटर खरीदे ही थे कि लोगों को चिल्लाते हुए सुना—"कम्पनी बाग (एलफ्रेड पार्क) में पुलिस के साथ किसी की जबरदस्त गोली चल रही है।"

पांडे ने उन लोगों को सम्बोधन कर घबराहट से पूछा—"क्या हुआ?.... किससे गोली चली?"

एलफ्रेड पार्क में गोली चल जाने की बात सुनकर मेरा भी मन कांप उठा। परन्तु पांडे का हाथ दबा कर मैंने कहा—"Dont be excited! (उत्तेजित मत हो!) हम लोग समझ गये कि एलफ्रेड पार्क में पुलिस की गोली किससे

चली होगी। पांडे को तो मैंने उत्तेजित न होने के लिये कहा पर मैं स्वयं ही खलबला उठा। अपनी साइकल घुमाते हुए मैंने पांडे से कहा—"मैं वहीं जा रहा हूँ।"

"जरा सुनो!"—पांडे मेरी साइकल का हैंडल थाम कर बोला—"खबर यहाँ तक पहुँचने तक तो सब कुछ हो चुका होगा। तुम भी समझ से काम लो। वहाँ जाकर क्या करोगे?......अब वहाँ जाकर अपने आप को पुलिस के हाथों सौंप देना ही होगा।"

बात पांडे की ठीक थी परन्तु ऐसे जान पड़ा कि अंधेरा-सा छा गया हो। फिर भी हम लोग रह नहीं सके और कुछ चक्कर देकर उस ओर गये ही। पुलिस लोगों को पार्क के भीतर जाने से रोक रही थी। पार्क के गिर्द सड़कों पर काफी भीड़ जमा थी। भीड़ के लोगों की बातों से निश्चय हो गया कि गोली क्रान्तिकारियों और पुलिस में चली थी। क्रान्तिकारी दो थे और पुलिस के साठ-सत्तर सिपाही। क्रान्तिकारी एक पेड़ के नीचे बैठे बात कर रहे थे। पुलिस ने उन्हें सब ओर से घेरकर ललकारा। दोनों ओर गोली चलने लगी।

उस समय उत्तर प्रदेश में पुलिस का इंस्पेक्टर जनरल हॉलिंस था। हॉलिंस ने अंग्रेज़ी पत्रिका "Men Only" के अक्तूबर १९५४ के अंक में भारत में अपनी नौकरी के संस्मरणों के प्रसंग में 'आज़ाद और पुलिस' इस लड़ाई का जिक्र किया है कि आज़ाद की पहली गोली अंग्रेज पुलिस सुपरिंटेन्डेन्ट नाटबावर की बांह में लगी। पुलिस के सिपाही बाढ़ की झाड़ियों के पीछे छिप कर आज़ाद और उनके साथी पर गोलियां चलाने लगे। पुलिस इंस्पेक्टर विशेश्वरसिंह निशाना लेने के लिये झाड़ी के ऊपर से झांक रहा था। उस समय तक आज़ाद के शरीर में दो-तीन गोलियां धंस जाने से खून बह रहा था। ऐसी हालत में भी आज़ाद ने इंस्पेक्टर के झांकते हुए चेहरे का निशाना लेकर जो गोली चलायी उससे विशेश्वरसिंह का जबड़ा टूट गया। हॉलिंस ने अपने संस्मरण में आज़ाद के इस निशाने की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"यह आज़ाद का अन्तिम परन्तु बहुत प्रशंसा के योग्य निशाना था।"

हॉलिंस ने तो यही लिखा है कि आज़ाद पुलिस की गोलियों से मारे गये परन्तु लड़ाई के समय मौजूद लोगों का कहना है कि दोनों क्रान्तिकारियों में से एक जख्मी होकर लड़ता रहा। दूसरा भाग गया। लड़ने वाले ने आखिरी गोली अपनी कनपटी पर मार ली। उसके गिर पड़ने पर भी पुलिस ने तुरन्त

उसके समीप आने का साहस न किया। कई गोलियाँ उसके शरीर में मार कर निश्चय कर लिया कि वह निष्प्राण हो चुका है। पुलिस शरीर को लारी में उठा कर ले गयी। सरकार की ओर से इस विषय में छपी सूचना में यह भी कहा गया था कि आज़ाद की जेब में पाँच सौ रुपये के नोट पाये गये थे। यह रुपया पं० नेहरू से मिले डेढ़ हजार में से ही था।

इलाहाबाद के राष्ट्रीय भावना रखने वाले और कांग्रेसी लोग आज़ाद का अंतिम संस्कार उचित ढंग से करना चाहते थे। नेहरू जी की पत्नी स्वर्गीय कमला नेहरू और बाबू पुरुषोत्तमदास जी टंडन ने भी अंतिम संस्कार के लिये आज़ाद का शरीर पुलिस से पाने का बहुत यत्न किया। पुलिस उनका शरीर देने में आनाकानी कर रही थी। अंत में एक व्यक्ति को आज़ाद के भाई के रूप में उनके शव की माँग करने के लिये पेश किया गया। आज़ाद का शरीर मिलने पर पाया गया कि उनकी दायीं कनपटी पर गोली का घाव था और घाव के चारों ओर के बाल जले हुए थे। यह इस बात का प्रमाण था कि कनपटी का घाव पिस्तौल कनपटी पर रख कर गोली चलाने से हुआ था। गोली दूर से आकर लगने पर कनपटी पर बालों के जलने का कोई कारण न होता। संस्कार गंगा तट पर किया गया। जुलूस न निकाले जाने की खास ताकीद थी फिर भी बड़ी संख्या में लोग एकत्र हो गये और चिता की भस्म की चुटकी-चुटकी श्रद्धा से उठा ले गये।

अगले ही दिन से बहुत से लोग राष्ट्रीय वीर की स्मृति में, एलफ्रेड पार्क के उस पेड़ की पूजा करने लगे। पेड़ के तने में काफ़ी छर्रे और गोलियाँ धँस गयी थीं। श्रद्धालु लोगों ने पेड़ के तने पर सिंदूर पोत दिया। लोग वहाँ धूप-दीप जला कर फूल चढ़ाने लगे। ब्रिटिश सरकार को यह बात असह्य थी। कुछ दिन बाद वहाँ पूजा करने वालों की भीड़ अधिक हो जाने से सरकार ने वह पेड़ कटवा दिया। परन्तु जनता तभी से एलफ्रेड पार्क को आज़ाद पार्क कहने लगी थी और अब तो पार्क का यही सर्वमान्य नाम हो गया है। कई दूसरे नगरों में भी लोगों ने अपने चौकों या पार्कों के नाम आज़ाद चौक, आज़ाद पार्क रख लिये हैं। लाहौर कांग्रेस में क्रान्तिकारियों के कामों की निन्दा का प्रस्ताव पास करवाने वाले नेताओं के लिये, यदि वह प्रस्ताव उन लोगों ने ब्रिटिश सरकार को खुश करने के लिये नहीं बल्कि वास्तविक निष्ठा से पास किया था तो जनता की यह भावना असह्य ही रही होगी।

एलफ्रेड पार्क से भाग जाने वाला साथी सुखदेवराज था। मुझे और दूसरे साथियों को भी सुखदेव का यह काम बहुत ही निन्दनीय लगा। राज के लिये भाग आना सम्भव इसलिये हो सका कि आज़ाद लड़ते रहे और पुलिस का ध्यान उनकी ओर ही केन्द्रित रहा। पुलिस का ध्यान आज़ाद की ओर चाहे जितना भी केन्द्रित रहा हो यह बात भी विस्मय की है कि भागते हुए सुखदेवराज पर किसी भी पुलिस वाले ने गोली नहीं चलाई।

इस घटना के बारे में १९३८ में सुखदेवराज से बातचीत हुई। एलफ्रेड पार्क की चर्चा चलने पर उसने बताया कि आज़ाद ने ही उससे कह दिया था—"मैं तो लड़ूंगा तुम बचने की कोशिश करो।" इसलिये वह भाग आया। आज़ाद ने ऐसा जरूर कहा होगा, यह ठीक है पर 'साथी' का भी कुछ कर्तव्य होता है। उसी वर्ष मई में सुखदेवराज लाहौर में गिरफ्तार हो गया। उसकी गिरफ्तारी के समय भी ऐसी ही घटना हुई। वह साथी जगदीश के साथ शालिमार बाग में पहचान लिया गया। पुलिस से घिर जाने पर जगदीश लड़ता-लड़ता शहीद हो गया। सुखदेवराज ने भाग जाने की कोशिश की परन्तु रास्ता न पा, हथियार डाल कर गिरफ्तार हो गया। सुखदेवराज को भी दूसरे लाहौर षड्यंत्र के साथियों के साथ रखा गया। साथियों को उसके प्रति इतनी विरक्ति थी कि आपस में कभी निभ न सकी। सुखदेवराज दरख़्वास्त देकर जेल में अलग रहने लगा।

दूसरी बात जो सुखदेवराज ने बतायी उसका महत्त्व है। यह समस्या अभी तक हल नहीं हो पाई कि आज़ाद के एलफ्रेड पार्क में होने के विषय में पुलिस को खबर किसने दी? सुखदेवराज ने बताया कि जिस समय वह और आज़ाद पार्क में पेड़ के नीचे बैठे ही थे, आज़ाद ने पार्क के बाहर की सड़क की ओर संकेत कर कहा था—"जान पड़ता है, वीरभद्र तिवारी जा रहा है। उसने हम लोगों को देखा तो नहीं?" सुखदेवराज ने यह बात दूसरे लोगों को भी कही होगी। प्रायः ही आज़ाद का पता पुलिस को देने का सन्देह वीरभद्र पर किया गया है। इस विश्वास के कारण कानपुर के रमेशचन्द्र गुप्त ने उरई जाकर वीरभद्र पर गोली चलायी और सात वर्ष जेल भी काटी। अन्य अवसरों पर भी वीरभद्र को विश्वासघात का दण्ड देने की कोशिश की गयी।

सुखदेवराज की बात के सम्बंध में यह ध्यान रखना उचित होगा कि आज़ाद ने वीरभद्र के सम्बंध में अनुमान ही प्रकट किया था, निश्चय से नहीं कहा था। यदि निश्चय होता तो वे उसी समय पार्क से कहीं और चले गये

होते। पार्क में जिस स्थान पर आज़ाद थे वहाँ से मेयो कालिज के साथ जाने वाली सड़क दो-अढ़ाई सौ कदम दूर थी। इतने अन्तर से निश्चय से पहचान लेना कुछ कठिन ही था। सुरेन्द्र पांडे इस विषय में वास्तविक बात का पता लगा सकने का अब तक बहुत यत्न करते रहे हैं। कांग्रेसी सरकार कायम हो जाने के बाद वे एक बार इस सम्बंध में रायबहादुर पं० शम्भुनाथ से, जो कांग्रेसी शासन में पुलिस विभाग में काफी अच्छे पद पर पहुँच गये थे, भी मिले। बात की कि पुरानी घटनाओं से अब कुछ लेना-देना नहीं है। इतिहास की सच्चाई की दृष्टि से यदि आज़ाद के विषय में पुलिस को समाचार मिलने का रहस्य पता लग सके तो क्या हर्ज है ? रायबहादुर साहब ने बात टाल दी। पांडे इस सम्बंध में ठाकुर विशेश्वरसिंह की मृत्यु के बाद उनकी वृद्धा माता से भी मिले। बुढ़िया ने बताया कि एक नवयुवक जरा मंझला-सा कद, घुंघराले केशों और गोरे रंग का आकर इंस्पेक्टर साहब से चुपके-चुपके बात किया करता था। इंस्पेक्टर साहब इस युवक की शर्बत, मिठाई से काफ़ी खातिर करते थे और पीठ पीछे उसे घृणा से गाली भी दिया करते थे। इलाहाबाद में जिस दिन इंस्पेक्टर विशेश्वरसिंह का जबड़ा आज़ाद से लड़ाई में टूटा, उस दिन भी वह युवक सुबह ही खबर देने आया था। इंस्पेक्टर उससे खबर पाकर बाहर जाते समय, उसे अपने ही मकान की एक कोठरी में बाहर से सांकल लगाकर, बंद कर गया था कि यदि 'साले' की बात झूठ निकली तो इसकी मरम्मत करूँगा पर लौटे तो स्वयं उनकी ही मरम्मत हो चुकी थी।। बुढ़िया के बताये नवयुवक के हुलिए से वीरभद्र के चेहरे-मोहरे और कद-कामत का कोई सादृश्य नहीं है।

इस सम्बन्ध में हॉलिस ने जो लिखा है वह भी विश्वास योग्य नहीं जान पड़ता। हॉलिस ने लिखा है कि विशेश्वरसिंह सुबह सैर के लिये एलफ्रेड पार्क में गया था। वहां उसने आज़ाद को पहचान लिया। आज़ाद लगभग साढ़े-आठ या नौ बजे एलफ्रेड पार्क में गये थे। यह समय सुबह की सैर का नहीं होता। इलाहाबाद के कुछ कांग्रेसी लोगों ने आज़ाद के सम्बन्ध में सूचना देने का कलंक रामरखसिंह सहगल पर भी लगा दिया था। इस बात पर भी हम लोग विश्वास नहीं कर सकते। रामरखसिंह सहगल से हम लोगों का थोड़ा बहुत सम्पर्क रहता तो था परन्तु उस समय आज़ाद के इलाहाबाद का पता सहगल को होने का कोई कारण नहीं था।

इलाहाबाद में भैया आज़ाद की शहादत के समय कटरे के मकान में उनके साथ सुरेन्द्र पांडे, भवानीसिंह और मैं ही रह रहे थे। परन्तु इलाहाबाद

के बाहर कानपुर, मेरठ, दिल्ली आदि में दूसरे लोग भी थे। उन सब की उपेक्षा करके मैं और पांडे रूस नहीं भाग जा सकते थे। एक तरह से रूस जाने का विचार उस समय के लिये स्थगित कर देना पड़ा। नेहरू जी रुपये का प्रबंध हमारे काम में सहायता के लिये नहीं केवल रूस चले जाने के लिये ही करने को तैयार थे इसलिये शेष रुपये के सम्बंध में मैं शिवमूर्तिसिंह से मिला ही नहीं। मेरे पास जो हज़ार रुपया था वह भी साथियों की तात्कालिक व्यवस्था करने में ही व्यय होने लगा। दुर्गा भाबी या सुशीला दीदी के लिये हमें कुछ नहीं करना पड़ा क्योंकि उस समय उनसे हमारा कोई सम्बंध ही नहीं रहा था। आज़ाद की शहादत को हम में से प्रत्येक व्यक्ति ने अपने निजी आत्मीय की मृत्यु के रूप में अनुभव किया। कानपुर जाकर मैंने प्रकाशवती को यह समाचार दिया तो मैं बोल ही न पा रहा था और फिर सहसा कह दिया—"मोटे भैया शहीद हो गये।" सुन कर पहले तो आँखें खुली रहते भी जैसे आदमी चेतना खो बैठे वैसे देखती ही रह गयीं फिर बहुत रोयीं। दल के सभी लोगों को आज़ाद से ऐसे व्यक्तिगत लगाव था जैसे केले की गहर में प्रत्येक फली बीच के डंडे से जुड़ी रहती है। अनपढ़ आज़ाद की योग्यता और उसके व्यक्तित्व का महत्व उसकी अनुपस्थिति में ही मालूम हुआ जब दल के बचे हुए लोगों को एक साथ बनाये रखना असम्भव सा जान पड़ने लगा।

× × ×

आज़ाद की शहादत के तुरंत बाद या बहुत समय तक दल के नये नेता का निश्चय नहीं हुआ परन्तु कुछ लोग सुरेन्द्र पांडे के प्रथम लाहौर षड़यन्त्र से सम्बंधित और पुराने होने के कारण और मेरे भी दूसरों से पुराने होने के कारण आदेश और सुझाव के लिये हम लोगों की ओर देखने लगे। एक और साथी काशीराम भी उतना ही पुराना था। कैलाशपति के बयानों के कारण उसकी गिरफ्तारी के भी वारंट जारी थे। प्रश्न था अब किया क्या जाये? जब भी कुछ करने का प्रश्न आता तभी खर्च के लिये रुपये का भी प्रश्न सामने आ जाता। मैं यों जान पर खतरा लेने से तो कतरा नहीं रहा था परन्तु डकैती नहीं करना चाहता था। उन दिनों लेनिन का जीवन चरित्र तथा कुछ और भी ऐसी पुस्तकें पढ़ ली थीं जिनके कारण मैं और पांडे इस बात पर सहमत थे कि हमें अपने गुप्त संगठन को विचारों की दृष्टि से भी व्यापक बनाने पर अधिक महत्व देना चाहिये। कानपुर और इलाहाबाद में आज़ाद से भी इस

सम्बंध में बात होती थीं। वे भी इस बात से सहमत थे कि हमें अपना व्यापक सार्वजनिक आधार बनाना चाहिये। हम चाहते थे कि पर्चे और छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ लगातार छापने के लिये कोई अपना प्रेस बनाया जाय। उस प्रेस के सभी कर्मचारी अपने साथी हों। इससे साथियों के लिये शेल्टर और निर्वाह की समस्या किसी हद तक हल हो जायगी। अब मेरे इस सुझाव के प्रति दूसरों में कोई उत्साह नहीं दिखाई देता था। शायद वे इसे जिम्मेवारी टालना ही समझ रहे थे। कार्यक्रम के विषय में सहमत हो जाने पर भी यह प्रश्न तो सब के सामने था कि हम किसका निर्देश मानें या दूसरे मेरा ही निर्देश क्यों न मानें? पुनः संगठन तो सभी चाहते थे परन्तु हो तो किसके निर्देश से? इस बीच मैं काशीराम और भवानीसहाय आदि से सम्पर्क स्थापित करने मेरठ भी गया। कानपुर के कुछ साथी और भवानीसिंह आदि सुरेन्द्र पांडे के सम्पर्क में थे।

२

भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु की शहादत

२३ मार्च १६३१ को लाहौर जेल में भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को फांसी पर लटका दिया गया। इस अवसर पर देश भर में शोक हड़तालें हुईं। इस समय तक ब्रिटिश साम्राज्यशाही, मुस्लिम लीग और कांग्रेस में काफी गहरी फूट डलवा चुकी थी। मुसलमानों में यह धारणा खूब गहरी पैठ चुकी थी कि कांग्रेस हिन्दू राज चाहती है। मुस्लिम लीग और साम्प्रदायिक मुसलमान कांग्रेस की प्रतिद्वन्द्विता में पीछे रह जाने से, अंग्रेज़ों की शह पाकर राष्ट्रीय भावना को ठुकराने में ही संतोष पाते थे। इन शहीदों के शोक में हड़ताल कराने में कानपुर की कांग्रेस ने प्रमुख भाग लिया था। पुलिस के भड़काने से कुछ मुसलमान कांग्रेस को चिढ़ाने के लिये उसमें सहयोग नहीं देना चाहते थे। ब्रिटिश सरकार के कृपापात्र बनने का भी यह सरल उपाय था। सर्वसाधारण जनता की दृष्टि में इस हड़ताल में सहयोग न देना देश के शहीदों की उपेक्षा करना था। जनता अपने मान्य शहीदों का ऐसा अपमान सह न सकती थी। हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया।

श्रद्धेय गणेशशंकर जी विद्यार्थी हिन्दू बस्ती में फँसे कुछ मुसलमानों की रक्षा के लिये गये थे। वहाँ कुछ अनजान या साम्प्रदायिकता में अंधे मुसलमानों ने उन्हें ही छुरी भोंक कर शहीद कर दिया। फिर क्या था, दंगे ने वह रूप लिया कि उसे सम्भाल सकना पुलिस के बूते के बाहर की बात हो गयी। एक दिन के बजाय पूरे पंद्रह दिन कोई दुकान न खुल सकी। कानपुर के हिन्दू-मुसलमानों को कई बरस के लिये नसीहत हो गयी।

इस दंगे का समाचार मुझे मेरठ में मिला था। दिल्ली आया तो और भी भयंकर समाचार मिले। प्रकाशवती तब कानपुर, प्रेमनगर के एक मकान में थीं। मैं तुरन्त कानपुर के लिये चल पड़ा। सुबह सूर्योदय से कुछ पहले ही

कानपुर पहुँचा । स्टेशन से बाहर निकलने पर देखा कि साधारणतः बनी रहने-वाली भीड़ चहल-पहल की जगह मरघट-सा सन्नाटा था । गाड़ी से बहुत कम मुसाफिर उतरे और जो उतरे अधिकांश स्टेशन पर ही ठिठके रहे । बाहर केवल पाँच-सात इक्के खड़े थे । मैं जब तक पहुँचा पहले आने वालों ने इक्के ले लिये थे । अब एक ही इक्का शेष था । इसे मैंने प्रेमनगर चलने के लिये कहा । मुझे पोशाक से हिन्दू समझ इक्के वाले ने कहा—साहब मैं बांसमंडी से घूम कर अर्थात् मुस्लिम बस्ती में से होकर चलूगा । वह मुसलमान था ।

मैंने पूछा—इतना चक्कर देने की क्या जरूरत है ? उसने साफ कह दिया कि हिन्दू बस्ती से होकर जाने की उस में हिम्मत नहीं है । सोचा जब इसे हिन्दू इलाके से भय है तो मेरा हिन्दू पोशाक में मुसलिम इलाके में जाना कौन बुद्धि-मत्ता है । यह भी समझ लिया कि स्थिति कितनी खराब है ? पैदल ही चला परन्तु प्रेमनगर तक जाने में तो हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही बस्तियों से गुज-रना पड़ता था । जाये बिना रह भी नहीं सकता था । अभी सूर्य नहीं निकला था । छोटा-सा बिस्तर बगल में दबाये चल पड़ा । बहुत चौकन्ना, पुलिस से लड़ने के लिये तो मैं तैयार था परन्तु हिन्दू-मुस्लिम दंगे में शहीद हो जाने के लिये नहीं । यह दंगे का पांचवां दिन था परन्तु पुलिस का पहरा केवल मुख्य चौराहों पर ही था । पुलिस को स्वयं भय था या अंग्रेज़ सरकार ने, हिन्दू-मुसलमानों को एक दूसरे का वैरी बन जाने की छूट दे दी थी । हालसी रोड के आखिरी हिस्से और जनरलगंज से गुज़रते हुए बराबर पिस्तौल पर हाथ चला जाता था परन्तु हुआ कुछ भी नहीं ।

प्रेमनगर में पहुँच कर मकान पर ताला पड़ा पाया । ताला अपना ही था । समझा कि इस मकान से तो प्रकाशवती अपनी इच्छा से ही गयी होगी पर होगी कहां ? दस बजे लेदर-वर्किंग स्कूल खुलने पर चौधरी रामधनसिंह से ही पूछा जा सकता था । मैं अनुमान से स्कूल के बोर्डिंग की ओर गया । रामधन मिल गये । पता लगा कि प्रेमनगर में तो बहुत भय था । समीप जनरलगंज से दंगे की दूसरी रात गली में मुसलमानों की भीड़ आ गयी थी । चौधरी और प्रकाशवती दोनों के ही कलेजे साम्प्रदायिक दंगे के शहीद बन जाने के भय से कांप रहे थे पर घर में पिस्तौल थे । एक मौज़र राइफल भी थी । हिम्मत की । छत पर चढ़ कर दो फायर कर दिये और ललकारा सबको भून डालेंगे । भीड़ छंट गयी । दूसरे दिन सुबह वे लोग यहाँ से निकल गये । प्रकाशवती को भी सब हिन्दू स्त्रियों के साथ एक कोठरी में बन्द कर दिया गया । बाद में यह

किस्सा सुना-सुना कर वे खूब हँसा करती थीं। इस दंगे के बाद कानपुर की अवस्था सुधरने में कई दिन लगे।

१६२६-३०-३१ में इन्कलाब ज़िन्दाबाद और भगतसिंह की जय गांधी जी की जय से कम सुनाई नहीं देती थी। कांग्रेस के सर्वसाधारण लोगों की गांधी जी से यह मांग थी कि सरकार से समझौते की शर्तों में भगतसिंह और उसके साथियों की फांसी की सज़ा रद्द की जाने की माँग भी रखी जाय। गांधी जी ने इस माँग को शर्त बनाने से इन्कार कर इस प्रसंग में वायसराय से केवल प्रार्थना भर करना ही स्वीकार किया। जो भी हो, जनता को बहुत आशा थी कि उनकी भावना की उपेक्षा नहीं की जायगी। भगतसिंह आदि की फांसी की सजा मनसूख हो जायगी। अंग्रेज सरकार ने भी इस प्रश्न को अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया था। भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को फाँसी दे ही दी जाने पर जनता को बहुत आघात पहुँचा। सर्व-साधारण जनता को इस बात से भी विकट क्षोभ हुआ कि गांधी जी ने इन शहीदों को फांसी न दी जाने के प्रश्न को उचित महत्व नहीं दिया।

इस विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि गांधी जी ने इस समझौते के लिये जो ग्यारह शर्तें वायसराय के सामने पेश की थीं उनमें एक शर्त देश भर में शराब निरोध की भी थी पर भगतसिंह आदि को फांसी न दिये जाने की नहीं। गांधी जी शराब निरोध के लिये सरकारी शक्ति से जनता पर दबाव डालना नैतिक समझते थे परन्तु भगतसिंह आदि की फाँसी रद्द करने के लिये विदेशी सरकार पर जनमत का दबाव डालना अनैतिक समझते थे। मार्च १६३१ के अंत में कांग्रेस का अधिवेशन कराची में हुआ था। उस समय जनता गांधी जी द्वारा भगतसिंह और उसके साथियों की उपेक्षा के लिये अपना क्षोभ प्रकट किये बिना न रह सकी। इन शहीदों के शोक में कांग्रेस में गांधी जी को काले झंडे दिखाये गये और काले फूल भी पेश किये गये। गांधी जी ने विनय से काले फूलों को ग्रहण कर स्वीकार कर लिया कि वे भगतसिंह को बचाने में असमर्थ रहे। सर्वसाधारण के लिये यह समझ सकना कठिन है कि जन-भावना के प्रतीक बन चुके भगतसिंह आदि की प्राण-रक्षा को समझौते की शर्त बनाने में गांधी जी असमर्थ क्यों थे। इस कांग्रेस अधिवेशन में पंडित नेहरू ने नवयुवकों और उग्र लोगों के संतोष के लिये राष्ट्र के उद्योग-धन्धों और पैदावार के मुख्य साधनों के राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव भी रखा था। कांग्रेस के शासन की बागडोर सम्भाल लेने और स्वयं उनके प्रधान मन्त्री

बन जाने पर, उन्हें १६३१ के प्रस्तावों की मांगें उस अनुपात में अव्यवहारिक और क्रियात्मक जल्दबाज़ी जान पड़ने लगीं।

जनता का मन विदेशी सरकार के प्रति दारुण और असमर्थ घृणा से भर गया। प्रतिक्रिया में भगतसिंह और उसके साथियों को प्रतिहिंसा में बर्बरता से फांसी पर लटकाने के और इन शहीदों के साहस के बहुत से अतिरंजित वर्णन भी जनता में फैल गये। लोग सरकार के प्रति घृणा, क्रोध और शहीदों के प्रति आदर प्रकट करने के लिये इन बातों को खूब बढ़ा-चढ़ा कर कहते थे। सुनने वाले कुछ और बढ़ा कर दूसरों को सुना देते।

अवसरवश दूसरे लाहौर षड्यंत्र के अभियुक्त सरदारसिंह, जहाँगीरीलाल, जयप्रकाश, धर्मपाल आदि इन साथियों की फाँसी के समय लाहौर सेन्ट्रल जेल में ही थे। इन लोगों की कोठरियाँ भी फाँसी पाने वालों की कोठरियों और फाँसी घर के समीप ही थीं। कभी-कभी सामना और बातचीत का अवसर भी हो जाता था। अपनी-अपनी कोठरियों से भी पुकार कर बातचीत हो सकती थी। वार्डरों और पहरेदारों की मारफ़त संदेश और खाने की चीज़ें लेते-देते रहते थे। इन लोगों का कहना है कि भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु तीनों ही अन्तिम दिन तक पूर्ण रूप से स्वस्थ मानसिक अवस्था में थे। उन्हें संतोष था कि वे अपने उद्देश्य के लिये बलिदान हो रहे हैं। फाँसी की कोठरी में भगतसिंह को केवल एक बात से कलख हुआ था। वह थी, उसके पिता सरदार किशनसिंह का पुत्र की प्राणभिक्षा के लिये अंग्रेज़ गवर्नर की सेवा में प्रार्थना-पत्र भेजना। गवर्नर ने तो वह प्रार्थना नामंजूर कर ही दी थी परन्तु भगतसिंह को यह बात बहुत अपमानजनक लगी। यह बात सुन कर उसने खिन्नता से कहा था—"My father has stabed me in the back" (पिता ने ही मेरी पीठ में छुरी भोंक दी।)

इन लोगों की फाँसी के लिये २४ मार्च, १६३१ तारीख निश्चित हुई थी। अंग्रेज़ सरकार को आशंका थी कि इस अवसर पर जनता जेल के सामने बहुत बड़ा प्रदर्शन करेगी। सम्भव है इन शहीदों के शव माँग कर उसका बहुत बड़ा जुलूस निकाला जाये। यह सब सरकार-विरोधी भावना का ही प्रदर्शन होता। इन सम्भावनाओं का प्रतिकार करने के लिये गवर्नर की अनुमति से यह काम कुछ पहले ही निबटा देना उचित समझा गया।

२३ मार्च को दूसरे लाहौर षड्यन्त्र के अभियुक्तों को दोपहर बाद ही अदालत से लौटा लिया गया। तीन-चार बजे सभी कैदियों को बारकों और

कोठरियों में बन्द कर दिया गया। सफ़ाई-भाड़ाई होने लगी। भगतसिंह के सबसे समीप धर्मपाल की ही कोठरी थी। भगतसिंह ने अपनी कोठरी से पुकार कर पूछा—"धर्म, आज तुम लोग अदालत से इतनी जल्दी क्यों आ गये?"

धर्मपाल ने उत्तर दिया—"लोग कहते हैं कि जेलों के बड़े इन्स्पेक्टर और डिप्टी कमिश्नर वगैरा मुआइने के लिये आ रहे हैं।"

भगतसिंह ने कहा—"अरे भोले लोगो, हम ही यह मुआइना करने जा रहे हैं।"

उसी समय इन तीनों को नहाने के लिये पानी दे दिया गया। जेल का कायदा है कि मृत्यु दण्ड पाने वाले को फाँसी के तख्ते की ओर ले जाने से पहले नहाने के लिये पानी दे दिया जाता है। भगतसिंह को जेल के अधि: कारियों में से ही किसी ने पहले सूचना दे दी होगी। जेल के निरीक्षण की बात पर मज़ाक करते हुए भगतसिंह ने धर्मपाल से यह भी कहा था—"....तुम लोगों ने जो मीठे चावल भेजे थे, हम लोगों ने खा लिये। न खाते तो ठीक रहता।" फांसी के लिये निश्चित सुबह से पहली रात दंड पाने वाले प्रायः निराहार रह जाते हैं ताकि फांसी के झटके से मल-मूत्र निकल जाने की सम्भावना कम रहे। जयप्रकाश वगैरा ने उससे स्मृति के लिये कुछ चीज़ें मांग रखी थीं। घंटे भर पहले उसने अपनी सभी चीज़ें, हजामत का सामान, पेंसिल, बटन से लेकर दियासलाई की खाली डिबिया तक सब चीज़ें बांट दी थीं परन्तु बड़े अफ़सरों को सन्देह न होने के लिये चुप था।

सुखदेव की कोठरी से इन्कलाब ज़िन्दाबाद की ऊँची पुकार सुनाई दी और झगड़ा होता जान पड़ा। मालूम हुआ कि उसे हथकड़ी लगाई जा रही थी और वह विरोध कर रहा था। फांसी के लिये ले जाते समय कैदियों के हाथ पीठ पीछे बांध देने का कायदा है। जेल के सबसे बड़े और बूढ़े वार्डर चतरसिंह ने भगतसिंह से प्रार्थना की कि हम पर ही रहम कीजिये। हथकड़ी लगाने का हुक्म मिला है और यह कायदा है, मान जाइये! भगतसिंह के कहने पर राजगुरु और सुखदेव ने हथकड़ियां लगवा लीं। भगतसिंह ने साथियों को पुकार कर कहा—"अच्छा भाई चलते हैं।"

दूसरे साथियों ने अपनी कोठरियों से 'इन्कलाब ज़िन्दाबाद' के नारे लगाने शुरू किये। अनुकरण में जेल भर के कैदी नारे लगाने लगे। इन नारों की आवाज़ें जेल के बाहर समीप ही पंडित के० संतानम के बंगले तक पहुँच रही

थीं। उन्होंने नारों के कारण का अनुमान कर सर्दार किशनसिंह को टेलीफोन कर दिया। नारे बंद हो गये। लोग फांसी का तख्ता गिरने की आहट सुन पाने के लिये सांस रोके चुप थे। धर्मपाल का कहना है कि उसकी घड़ी के हिसाब से ७ बजकर २३ मिनिट पर फांसी का तख्ता गिरने की आहट आई। पूरा जेल फिर इन्क़लाब जिन्दाबाद, भगतसिंह ज़िन्दाबाद, सुखदेव ज़िन्दाबाद, राजगुरु ज़िन्दाबाद के नारों से गूंज उठा। इन नारों की गूंज के कारण आध घंटे तक हमारे साथी आपस में बात न कर सके। जेल अफ़सरों ने हमारे साथियों को बताया कि फांसी के तख्ते पर पहुँच कर भगतसिंह ने सुपरिन्टेंडेंट से अनुरोध किया कि आप दो मिनिट का अवकाश दें ताकि हम संतोष से नारे लगा सकें। आशा है आप हमारी इतनी बात मान लेंगे। सुपरिन्टेंडेंट मौन स्वीकृति में खड़ा रहा। तीनों ने एक साथ नारे लगाये—

Long live revolution—इन्क़लाब ज़िन्दाबाद !
Down with imperialism—साम्राज्यवाद का नाश हो !

उस दिन पूरे जेल ने खाना नहीं खाया। सम्भव है जेल के हिन्दुस्तानी अफ़सर, सरकारी ड्यूटी पूरी करते हुए भी, मन में चोट या ग्लानि अनुभव कर उस दिन खाना न खा सके हों या उन्होंने दुख अनुभव किया हो। जेल का दारोगा खान साहिब मुहम्मद अकबर फांसी के दो तीन दिन बाद सरदारसिंह आदि से मिले तो अपने आप ही जिक्र किया—"नौकरी की गुलामी में सरकारी हुक्म तो पूरा करना ही पड़ा लेकिन तबियत परेशान है। खाना सामने आता है तो ज़हर मालूम होता है। लानत है इस खाने पर जिसके लिये यह गुलामी करनी पड़ रही है।" यह पंक्तियां लिखते समय एक बात याद आगयी:—१६३० में पेशावर में सरकारी हुक्म से जनता पर गोली चलाने से इन्कार करने वाले गढ़वाली सिपाहियों की गांधी जी ने निन्दा की थी क्योंकि वे सिपाही गांधी जी के विचार में कर्तव्य से च्युत हो गये थे। लाहौर जेल में हिन्दुस्तानी सिपाहियों और अफ़सरों ने भगतसिंह आदि को फांसी पर लटका देने की आज्ञा तो पूरी की परन्तु उन्होंने इसके लिये जो दुख अनुभव किया गांधी जी की दृष्टि में वह पाप ही था। अर्थात मानवता और राष्ट्रीय भावना की अपेक्षा मालिक की गुलामी निबाहना ही बड़ा धर्म है।

यह आशा नहीं थी कि शहीदों का उचित सत्कार करने के लिये सरकार इनके शरीर उनके सम्बंधियों को दे देगी। लोग इस बात के लिये भी बहुत सतर्क

थे कि सरकार इन शरीरों को कहीं दूर ले जाकर इनके प्रति उपेक्षा या निरादर का व्यवहार न करे इसलिये लोग लाहौर से बाहर जाने वाली सभी सड़कों पर चौकसी में बैठे हुए थे। फिरोजपुर की सड़क पर भगतसिंह की बहिन अमरकौर कुछ साथियों के साथ थीं। आधी रात के लगभग पुलिस की लारियों को फिरोजपुर की तरफ जाते देख इन लोगों ने अनुमान किया कि शहीदों के शव सतलुज नदी की ओर, लाहौर से लगभग ६०-६५ मील दूर ले जाये जा रहे हैं। दिन निकलने तक बहुत से लोग सतलुज के रेल पुल पर पहुँच गये। वहाँ तीन चितायें जल रही थीं परन्तु पुलिस लौट चुकी थी। दिन भर में वहाँ खूब भीड़ लग गयी। उस स्थान से चिताओं की राख या अस्थियाँ आदि जो कुछ भी मिला, लोग श्रद्धा से साथ ले गये। बाद में १९४७ मार्च तक वहाँ प्रतिवर्ष मेला लगता रहा। अब वह भाग पाकिस्तान में है।

कुछ ऐसी अफ़वाहें भी उड़ी थीं कि पुलिस ने इन शहीदों के मृत शरीरों के साथ भी प्रतिहिंसा का व्यवहार किया अर्थात चिता पर भस्म करने के पहले उनके टुकड़े कर दिये गये और हिन्दू रीति या प्रथा को पूरा नहीं निबाहा गया। अफ़वाहों के निराकरण के लिये सरकार ने उसी रात विज्ञप्ति प्रकाशित की थी कि भगतसिंह का अन्त्येष्टि संस्कार सिख विधि से करने के लिये एक ग्रंथी (सिख पुरोहित) सुखदेव और राजगुरु के लिये एक ब्राह्मण पुरोहित को साथ रखा गया था। उनकी चिताएँ भी नदी के किनारे उचित स्थान पर बनायी गयी थीं। सरकारी अनुष्ठान में जनता की श्रद्धा भावना तो हो नहीं सकती थी परन्तु जो लोग अंग्रेज़ी सरकार के ढंग से परिचित हैं, उन्हें शहीदों का अंग-च्छेद किया जाने की बात पर विश्वास न होगा? आखिर इसकी ज़रूरत क्या थी? अंग्रेज़ शासक इस बात के लिये सदा सतर्क रहते थे कि वे बर्बर न समझे जायें या जनता के उत्तेजित होने का कोई कारण न हो। न्याय और कानूनी नैतिकता का आडम्बर बना रहे। भारतीय पुलिस और सेना पर नैतिक प्रभाव बनाये रखने के लिये ऐसा व्यवहार आवश्यक था।

कुछ और भी ऐसी असंगत बातें फैलायी गयीं जिनसे इन शहीदों के मनुष्येतर होने की भावना झलकती है। उदाहरणतः फांसी की कोठरी में प्रसन्नता से उनका वज़न बहुत अधिक बढ़ जाना और उनका फाँसी के तख्ते पर कूद जाने के लिये व्याकुल और आतुर रहना। जेल का अनुभव पाये लोग प्रायः जानते हैं कि फाँसी की कोठरी में अस्सी, नब्बे प्रतिशत लोगों का वज़न बढ़ ही जाता है। इसका शारीरिक कारण है, फाँसी की कोठरी में खाना

अपेक्षाकृत अच्छा मिलता है। आध सेर दूध नित्य दिया जाता है। जेल के काम की मेहनत करनी नहीं पड़ती। फाँसी के भय का आतंक तो सज़ा पाने वाले पर अधिक तभी होता है जब पहले-पहल सेशन अदालत से फांसी का हुक्म होता है। उसके बाद हाईकोर्ट में अपील हो जाती है। अभियुक्त को छूट जाने की आशा बनी रहती है। हाईकोर्ट से भी सज़ा बहाल रहने पर गवर्नर के यहाँ दया की प्रार्थना कर दी जाती है। प्रार्थना अस्वीकृत हो जाने पर भी फांसी की तारीख अपराधी को बतायी नहीं जाती। बस रात भर पहले, बल्कि घंटे-दो-घंटे पहले जब उसे तोल कर देखा जाता है या नहा, धोकर भगवान का नाम लेने के लिये कहा जाता है, तभी वह जान पाता है कि समय आ गया। प्रायः ही लोग फाँसी की कोठरी में छः महीने या साल भर तक प्रतीक्षा में बन्द रह जाते हैं। मानसिक रूप से इस अवसर के लिये तैयार भी हो ही जाते हैं। सौ में से चार पाँच ही ऐसे निकलते हैं जो फाँसी की ओर ले जाये जाते समय रोते या चिल्लाते हैं या जिन्हें खींच कर ले जाना पड़ता है। प्रायः ही लोग राम-राम या अल्लाह-अल्लाह पुकारते स्वयं ही चले जाते हैं। सौ में से पाँच, छः कत्ल के अपराधी ऐसे भी आ जाते हैं जो निर्भय प्रवृत्ति के कारण अन्त समय तक हँसते या गाते रहते हैं। ये ऐसे लोग होते हैं जो स्वभाव से अपराधी प्रवृत्ति के नहीं होते परन्तु आत्म-सम्मान या अपने विश्वास से कर्त्तव्य की भावना के कारण कत्ल कर बैठते हैं। परन्तु ऐसे लोगों की कर्त्तव्य भावना नितांत वैयक्तिक होती है। सामाजिक या राष्ट्रीय नहीं।

भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु के फांसी की कोठरियों में रहते समय भी उनके पड़ोस में एक ऐसा ही व्यक्ति केहरसिंह था। इन लोगों के फांसी की कोठरियों में जाने के समय केहरसिंह वहां पहले से मौजूद था। उस पर अपने बहनोई और गांव के नम्बरदार के कत्ल का मुकद्दमा था। पुलिस लाशें नहीं पा सकी थी इसलिये केहरसिंह को हाईकोर्ट से छूट जाने की आशा थी। वह सब से कहा करता था—अभी मुझे एक कत्ल और करना है। लौट कर फांसी चढ़ूंगा। केहरसिंह छूट गया और सचमुच दो मास बाद नायब थानेदार का कत्ल करके फिर लौट आया। सेशन ने उसे फिर फांसी की सजा का हुक्म दे दिया। इस बार वह हाईकोर्ट में अपील नहीं करना चाहता था। उसकी इच्छा के विरुद्ध उसकी चाची की प्रार्थना पर अपील कर दी गयी। लाश इस बार भी नहीं मिली थी। सम्भव था कि छूट जाता। केहरसिंह ने

दर्खास्त दे दी कि मैं कुछ कत्लों और लाशों का भेद पुलिस को देना चाहता हूँ। पुलिस उसे बेड़ियां पहना कर पहरे में ले गयी। केहरसिंह ने अपने तीनों कत्लों की लाशें बरामद करवा दीं और अदालत में कत्ल कबूल कर लिये। वह फिर फांसी की कोठरी में आ गया। उसे आतशिक, सुजाक की विकट बीमारियां थीं। फांसी की कोठरी में दिन भर फोश और अश्लील गीत ऊंचे स्वर में गाया करता था। शायद फांसी पर चढ़ कर शांति पा जाने के लिये बेचैन था। एक दिन उसे हमारे साथियों ने समझाया—"तू इतना बहादुर आदमी है, ऐसे गंदे गाना तुझे शोभा नहीं देते।"

केहरसिंह ने पूछा—"तो फिर क्या गाया करूं? कुछ तो गाऊं कि समय कटे?"

साथियों ने कहा—"भाई तू और कुछ नहीं समझता तो भगवान या वाहगुरू का ही नाम लिया कर! गन्द तो न बका कर!"

केहरसिंह इन लोगों की बात मानता था। उसने समझौता कर लिया—"बहुत अच्छा, अब मैं गाया करूंगा—मौला मैं कुक्कड़ खादे तेरे, तू बख्शदे औगुन मेरे।" (हे मालिक मैंने तेरे बहुत से मुर्गे खाये हैं, तू मेरे अपराध क्षमाकर) केहरसिंह फांसी की ओर जा रहा था तब भी यही गीत गा रहा था।

केहरसिंह जैसे लोगों की मानसिक अवस्था स्वस्थ और सम नहीं समझी जा सकती। ऐसे लोग अपने जीवन से खिन्न होकर मृत्यु से शांति की आशा रखते हैं। ऐसे लोगों की मानसिक प्रकृति को वीरता नहीं कहा जा सकता। जीवन से उपराम होकर शांति के लिये मृत्यु की शरण चाहना वीरता नहीं है। भगतसिंह और उसके साथी न जीवन से खिन्न थे और न उनकी मानसिक अवस्था विकृत थी, न वे जीवन से घबराकर शांति के लिये मृत्यु चाहते थे। उनका लक्ष्य मानवता का कल्याण था। मानवीय अधिकारों को पाने का कर्तव्य पूरा करने के लिये उन्हों ने मृत्यु को स्वीकार किया। इस परिस्थिति का सामना उन्होंने स्वस्थ, सम मानसिक अवस्था से किया। यही उनकी वीरता थी।

इन तीनों शहीदों की आपस में किसी प्रकार की तुलना करना उचित नही जँचता परन्तु मुझे औचित्य के विचार से ही कहना पड़ता है कि सुखदेव के साथ अन्याय हुआ है, उसकी भावना को ठीक से समझा नहीं गया। उसके और दूसरे साथियों के दृष्टिकोण में अन्तर होने से उसका व्यवहार भी

कुछ विचित्र-सा जान पड़ा। पहली बात थी गिरफ्तारी के बाद कुछ बयान दे देना। इसी बात से उसके और दूसरे साथियों के व्यवहार में अन्तर आ गया। बाद में भी उसकी भावना की ओर ध्यान न देकर उसके व्यवहार की भिन्नता की ओर ही ध्यान जाता रहा। सुखदेव के अन्त तक के पूरे व्यवहार को देखकर ही उसे ठीक समझा जा सकता है। सुखदेव के अन्तिम दिन के व्यवहार से स्पष्ट है कि वह साहस में किसी की अपेक्षा कम नहीं बल्कि कुछ अधिक उग्र ही था। शत्रु पक्ष से किसी प्रकार के सौजन्य की आशा करना या उनके प्रति सौजन्य दिखाना उसे नापसन्द था। मुकद्दमे के विषय में भी उसका व्यवहार और दृष्टिकोण ऐसा ही था। दूसरे साथियों का विचार था कि यदि मुकद्दमे और कानून के दांव-पेंच से बचा जा सकता है तो क्यों न बचा जाये। सुखदेव को मुकद्दमा लड़ना भी शुरू से ही एक प्रकार का सहयोग ही जान पड़ता था। उसका दृष्टिकोण था—हमारी तुम्हारी लड़ाई है। हम लड़ रहे हैं तुम्हें जो करना है कर लो। उसका आरम्भिक बयान अपने काम की स्वीकृति के रूप में इसी भावना का परिणाम था। उसके दृष्टिकोण में चाहे जो गलती हो परन्तु कायरता या जान बचाने की भावना नहीं थी।

३

पुनः संगठन का प्रयत्न

कुछ सहायक

मैं दिल्ली आने-जाने लगा था। महाशय कृष्ण जी को रुपये-पैसे के लिये फिर परेशान कर रहा था। खासकर मैं दल के नाम पर लिया रुपया व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिये खर्च नहीं करना चाहता था पर 'लक्ष्मण की यह रेखा' निभती नहीं थी। क्योंकि व्यक्तिगत उपयोग के नाम पर लिया रुपया ही अधिकांश में दल के काम में लग जाता था। एक दिन कृष्ण जी ने हाथ जोड़ कर कहा—"महराज दो नये भक्तों से परिचय करा देता हूँ। अब मेरी जान छोड़ो।"

कृष्ण जी की पत्नी के भाई ध्रुवदेव हमारी वजह से एक बार हवालात काट आने पर भी सहायता करते ही रहते थे। अब उन्होंने अजमेरी दरवाज़े में रोशन थियेटर के समीप की गली में रहने वाले एक सज्जन प्रभुदत्त से परिचय करा दिया। प्रभुदत्त का खूब बड़ा मकान था, यों भी सम्पन्न थे। उन दिनों वे शौकिया हवाई जहाज़ उड़ाना सीख रहे थे। बाद में वे सब से पहले और मुख्य भारतीय सिविल पाइलेट बन गये थे। प्रभुदत्त की सहायता की कोई सीमा नहीं थी। उनके पास अपनी छोटी मोटर थी। जहाँ कहीं मुझे जाना होता वे प्रायः ही पहुँचा देने के लिये तैयार रहते। यदि कभी स्वयं साथ जाने में खतरा जान पड़ता तो कह देते—"तुम गाड़ी ले जाओ। पकड़े जाओगे तो मैं कह दूंगा मेरी गाड़ी चोरी हो गयी है। जहाँ तुम्हारे खिलाफ़ इतने मुकद्दमे हैं, मोटर चोरी का एक मुकद्दमा और सही!" उन्हें यह भी मालूम था कि लाहौर और देहली षड्यन्त्र के मुकद्दमों में हमारे कुछ साथियों ने मुखबिर बन कर दल को सहायता देने वाले कई लोगों को संकट में डाल दिया था।

इसलिये वे चाहते थे कि मैं उनका परिचय दल के किसी दूसरे आदमी को न दूँ। मैंने भी उनकी बात का अक्षरशः पालन किया।

प्रभुदत्त ने चाँदनी चौक से जामा मस्जिद को जाने वाली, परेड के साथ की सड़क पर ऊँचे मकानों के पीछे, गली में मेरे लिये दूसरी मंजिल पर एक जगह ढूँढ़ दी और किराया भी दे दिया था। मैं प्रकाशवती को भी यहाँ ही ले आया। यहाँ हमारे रहने का ढंग ऐसा था कि मकान छोड़ जाने के बाद भी कभी किसी को सन्देह नहीं हुआ। प्रभुदत्त मेरे गिरफ्तार हो जाने के बाद भी प्रकाशवती की सहायता करते रहे।

प्रभुदत्त पाइलेट बन गये थे। हिमालयन एयरवेज़ में उन्होंने पं० नेहरू को भी कई बार सफ़र कराया। मुझे भी एक बार हवाई जहाज़ का परिचय देने के लिये दिल्ली मथुरा के ऊपर काफ़ी समय तक उड़ा कर दिखा दिया था। हवाई जहाज़ से यह मेरा पहला ही परिचय था। प्रभुदत्त के भाई ब्रह्मदत्त भी पाइलेट बन गये थे। उस समय ऊँची योग्यता का पहला भारतीय पाइलेट प्रभुदत्त ही था। सुना है, अंग्रेज़ पाइलेट उनसे ईर्षा भी कम नहीं करते थे। एक दिन दोनों भाई कराची से दो अलग-अलग हवाई जहाज़ों में देहली और लाहौर जा रहे थे। रास्ते में दोनों हवाई जहाज़ों में आग लग गयी और दोनों भाई जहाज़ों के साथ समाप्त हो गये। लोगों को यह सन्देह हुआ कि यह घटना किसी कुचक्र का परिणाम थी। पहले मालूम न था कि प्रभुदत्त किस जहाज़ में जायेगा इसलिये शायद कुचक्र रचने वालों ने दोनों ही जहाज़ों में निश्चित समय पर आग लग जाने की व्यवस्था कर दी थी। प्रभुदत्त जैसे सहृदय और साहसी व्यक्ति कम ही देखने में आये हैं।

कृष्ण जी द्वारा पाया दूसरा सम्पर्क था सुमित्रा दीदी। सुमित्रा दिल्ली के प्रसिद्ध ठेकेदार नारायणदत्त जी की पुत्री हैं। नारायणदत्त जी पुराने कांग्रेसी हैं। बड़े-बड़े कांग्रेसी नेता उन्हीं के यहाँ आतिथ्य ग्रहण करते थे। सुमित्रा भी खद्दर पहनती थी। एम० ए० श्रेणी में पढ़ रही थीं। उनसे कुछ सैद्धान्तिक बातचीत भी होती रहती थी। उनका कहना था—देशभक्ति या देश में समाजवाद और स्वतंत्रता के लिये जान देना तो ठीक ही है परन्तु बम और पिस्तौल लेकर हिंसा करना ठीक नहीं। आर्थिक सहायता वे बड़ी उदारता से करती थीं परन्तु यह भी कह देतीं—"भैया यह पैसा किसी की जान लेने में खर्च न हो। साधारणतः उनका ऐसा ही व्यवहार था। एक दिन स्वयं मोटर में जाते समय उन्होंने मुझे दिल्ली में कहीं पैदल जाते देख लिया था।

मिलने पर टोका—"उस दिन तुम फलानी जगह भीड़ में पैदल जा रहे थे न ?·······कोई पहचान कर पीछा कर लेता तो ?"

उत्तर दिया—"साइकल है नहीं। हर समय टाँगा किराये पर लेने के लिये पैसा पास नहीं रहता। टाँगे से तो पैदल अच्छा। जब चाहें किसी गली में खिसक जायें।"—बोलीं—"मेरे साथ घर चलो। रुपया लाकर अभी साइकल खरीद लो।"

सुमित्रा दीदी और हमारे परिचितों की आशंका ठीक ही थी। उन दिनों दिल्ली षड़यन्त्र का मामला ज़ोरों पर चल रहा था। अदालत में दिये कैलाशपति के बयान अखबारों में छपते रहते थे। आज़ाद, भगवतीचरण और यशपाल की बहुत चर्चा थी। आज़ाद और भगवतीचरण दोनों शहीद हो चुके थे रह गया था यशपाल। यशपाल के सम्बन्ध में पुलिस की धारणा क्या थी, इसकी चर्चा हॉलिंस के संस्मरण में इन शब्दों में है:—"आज़ाद की मृत्यु के बाद दल के दूसरे साथी ने तुरन्त उसकी जगह ले ली जो और भी अधिक दुस्साहसी और निर्मम निकला····"

पंजाब और देहली पुलिस की ओर से इनाम के खूब बड़े-बड़े इश्तहार फरार क्रान्तिकारियों की गिरफ्तारी कराने के लिये डाकखानों, रेलवे स्टेशनों और शहर के चौकों आदि में लगे हुए थे। इन इश्तहारों के बीचों-बीच मेरी तसवीर रहती थी। बाजारों, चौकों में लगाये गये इश्तहारों को लोग फाड़ डालते थे या उतार कर ले जाते थे। ऐसा ही एक इश्तहार देहली में श्रीकृष्ण सूरी कहीं से उतार लाये थे। वह अभी तक मेरे पास पड़ा है। मेरी धारणा थी कि इन इश्तहारों को देख कर मुझे कोई नहीं पहचान सकेगा। आशंका है केवल पहचानने वालों से। कभी स्टेशन पर गाड़ी बदलने के लिये प्लेटफार्म पर इन्तजार करना आवश्यक ही होता तो मैं निधड़क इश्तहार के नीचे पड़ी बेंच पर जा बैठता और सिगरेट सुलगा लेता। विश्वास था कि ठीक इश्तहार के नीचे ही मेरे आ बैठने की आशा कोई नहीं करेगा। नकली दाढ़ी-मूंछ कभी नहीं लगायी। बस पोशाक में थोड़ा-बहुत हेर-फेर करने से काम चल जाता था।

कानपुर गोलीकांड

इन दिनों इसी प्रतीक्षा में था कि साथी दल के संगठन का उत्तरदायित्व एक व्यक्ति को सौंप दें तो काम चले। वह गुप्त काम सदा वोट लेकर तो हो

नहीं सकता था। सुरेन्द्र पांडे कानपुर में संगठन के लिये प्रयत्न कर रहा था। उसका संदेशा पाकर दूसरी बार कानपुर गया। यात्रा करने में कुछ जोखिम तो रहती ही थी। इस बार पांडे से कहा कि सलाह करना चाहते थे तो तुम्हीं दिल्ली चले आते, आखिर मैं तो फरार हूँ सफर करने के लिये पैसा चाहिये और कुछ आशंका पहचाने जाने की भी रहती है। पांडे ने उत्तर दिया—"देखो, तुम्हारी ओर तो किसी का ध्यान आकर्षित होता नहीं है। हमारा तो चेहरा ही कुछ फिलासफरों जैसा है न, सो तुरंत ध्यान आकर्षित हो जाता है। कानपुर की पुलिस एक बार गिरफ्तार भी कर चुकी है, खूब पहचानती है।"—पांडे की दूसरी बात तो कम से कम ठीक ही थी। अभी दुबारा वारंट न होने पर भी वह फरार ही था। अस्तु मैंने ही कानपुर आना-जाना स्वीकार कर लिया। मई मास में फिर कानपुर से बुलावा आया कि संगठन के सम्बंध में सब मिल कर फैसला करेंगे। मैं अमुक दिन, ग्यारह बजे सरसैया घाट पर मिलूं।

जहाँ तक याद है कानपुर जाकर मैं गुलजारीलाल के यहाँ ही ठहरा था। दोपहर में उन्हीं की साइकिल लेकर सरसैया घाट पहुँचा। मई का महीना, चिल्ले की धूप थी। ऐसे समय सरसैया घाट सूना होने की आशा थी। घाट पर पहुँच कर देखा, घाट से ऊपर किनारे के एक तरफ़ पीपल के पेड़ के नीचे, शिव जी के छोटे से मन्दिर के चबूतरे पर अपने साथी काशीराम, भवानी सहाय और राजेन्द्र निगम बैठे ताश फेंट रहे हैं। सुरन्द्र पांडे और किसी दूसरे साथी की प्रतीक्षा थी। इधर-उधर की बातों में पाँच-सात मिनिट ही गुज़रे होंगे। मेरा ध्यान कुछ क़दम पर खड़े चार आदमियों और एक इक्के की ओर गया। इनके पास दो साइकलें भी थीं। अपने साथियों से पूछा—"यह कौन लोग हैं? कैसे खड़े हैं?"

काशीराम ने उत्तर दिया—"न जाने कौन हैं। मेरे पीछे-पीछे चले आये हैं। तब से खड़े हैं।"

यह उत्तर सुन मैंने काशीराम की बुद्धि पर विस्मय प्रकट किया—"अजीब आदमी हो, कोई पीछा कर रहा था तो उसे साथ ही ले आये? पीछा करने वाला सी०आई०डी० के अतिरिक्त और कौन होगा?"

काशीराम ने कहा—"मैंने तो घूमघाम कर पीछा छुड़ाने की कोशिश की लेकिन यह लोग मानते ही नहीं।"

उस की इस सादगी पर क्रोध आया। अभी और भी साथी आने वाले थे। मैंने कहा—"यह तो तुमने बुरा किया। सभी को संकट में डालोगे।"

पर अब क्या हो सकता था। दूसरे लोगों के आ जाने से पहले ही इनसे निबट लेना या वह जगह छोड़ देना उचित था। एक हाथ ताश बाँटा कि देखें वे क्या करते हैं। उन्हें उसी जगह जमे खड़े देख कर मैंने उन्हें समीप पुकार लिया—"अरे भाई खड़े क्या देखते हो? आओ न दो हाथ ताश के ही हो जायँ!"

"हम खड़े हैं। आप से कुछ कहते थोड़े हैं। आप लोग खेलिये!"—उत्तर मिला।

"पर खड़े क्यों हो? कुछ काम है हम से?"—मैंने फिर पूछा।

"कुछ काम नहीं है। आप लोग खेलिये।"—उन्होंने उत्तर दिया।

"हम लोग यहाँ अकेले में अपने हँसी-मज़ाक और खेल के लिये आये हैं। किसी का खड़े होकर ताकना तो अच्छा नहीं लगता!"

"हम आप से कुछ नहीं कह रहे! आप अपना खेल खेलिये!" फिर उत्तर मिला।

अब क्या सन्देह था। मैंने उन्हें सुना कर अपने साथियों से कहा—"यह लोग यहाँ बैठना चाहते हैं तो चलो हम ही कहीं और चलें!"

हम चारों आदमी उठ खड़े हुए और साइकलें लेकर, सड़क पर आकर 'लाल इमली मिल' की ओर चलने लगे। उनमें से दो साइकलों पर और दो खूब तेज़ इक्के पर हमारे पीछे आरहे थे। उस समय राजेन्द्र निगम के विरुद्ध वारंट नहीं था। मैंने उससे कहा—"आगे फटने वाले रास्ते से तुम हालसी रोड की ओर चले जाना। अगर इनमें से कोई तुम्हारा पीछा करेगा तो यह बँट जायेंगे। तुम्हारा क्या बिगाड़ लेंगे। शेष को हम देख लेंगे।" (निगम उन दिनों कांग्रेस दफ्तर में रहता था।)

लाल इमली के चौक पर आकर निगम हालसी रोड की ओर घूम गया। उन लोगों ने निगम का पीछा नहीं किया। मैंने काशीराम और भवानीसहाय से कहा—"साइकल खूब तेज़ चलाओ। जब मैं कहूँ तो एक दम रुक जाना।" हम लोग खूब तेज़ चले। हमारा पीछा करने वाले भी उतने ही तेज़ हो गये। इक्के का घोड़ा बढ़िया था। पटापट खूब तेज़ चला आ रहा था। सोचा, आगे तो कचहरी आ जायगी। वहाँ भीड़ में हमारा बचाव और कठिन हो जायगा। मैंने अपने साथियों को सहसा कहा—"स्टाप!"

हम तीनों ने साइकलों को ब्रेक लगा कर रोक दिया और हमारा पीछा करने वाले खबरदार न होने से हम से आगे निकल गये परन्तु वे भी रुक कर हमारी तरफ घूम गये। इस प्रयत्न में उनमें से एक की कमर में कुर्ते के नीचे लटकते रिवाल्वर की भी झलक मिल गयी। मैंने उन्हें फिर सम्बोधन किया–"आखिर आप लोग चाहते क्या हैं?"

अब उन में से एक ने काशीराम की ओर संकेत करके उत्तर दिया—"हम इन्हें अपने साथ थाने ले जायेंगे।"

"क्यों?"—मैंने पूछा।

"इनके नाम वारंट है।"

"इनके नाम वारंट कैसे हो सकता है?"—मैंने पूछा—"अच्छा क्या नाम है इनका?"

"काशीराम"—उत्तर मिला।

"मेरा नाम तो जगदीश है"—काशीराम बोला। मैंने भी उसका समर्थन किया। उन लोगों ने कहा—"अगर ऐसी बात है तो यह हमारे साथ कोतवाली चलें। वहाँ फैसला हो जायगा।"

मैंने फिर कहा—"यह कोतवाली आकर खुद बात कर लेंगे। आप जाइये। हम इन्हें कोतवाली ले आयेंगे।" ऐसा प्रस्ताव वे लोग क्या मानते। मैं अवसर की प्रतीक्षा में था। अस्तु, मैंने काशीराम से कहा—"अच्छा भाई, यह लोग कह रहे हैं तो मान लो। तुम इनके साथ जाओ। हम तुम्हारे भाई को लेकर कोतवाली आते हैं।"

काशीराम घबराया—"नहीं, मैं नहीं जाऊँगा। मैं क्यों जाऊँ? मेरा नाम जगदीश है।"

मैंने उसे डांटा—"जाते क्यों नहीं? जब यह लोग कह रहे हैं, तुम्हें पुलिस का कहना मानना चाहिये। तुम्हारा क्या हर्ज है?"

स्वाभाविक ही था कि काशीराम घबरा जाता कि मैं उसे मुसीबत में अकेले धकेल रहा हूँ—"मैं चला जाऊं भैया?" उसने निराशा से पूछा।

मैंने और भी डांटा—"कह तो रहा हूँ, जाओ। पुलिस से क्या झगड़ा? हम तुम्हारे भाई को लेकर अभी आते हैं। घबराने की क्या बात है?"

गहरा सांस लेकर काशीराम ने कहा—"अच्छा !" और भाग्य भरोसे अपनी साइकल घुमाने लगा। शायद यह सोच कर कि अब अकेले जो बन पड़ेगा, करेगा।

पुलिस वालों ने उसकी साइकल थाम कर कहा—"आप इक्के पर बैठ जाइये। साइकल आपकी हम इक्के के पीछे बांध देंगे।"

काशीराम ने अपनी साइकल न छोड़ने की जिद् की। यही सोचता होगा कि साइकल पास रहने से ही भाग जाने की आशा हो सकती है। मैंने फिर डांटा—"यह लोग जो कहते हैं वही क्यों नहीं करते हो जी ?"

काशीराम ने बहुत ही निराशा में साइकल छोड़ दी और पुलिस वालों के कहने से इक्के पर बैठ गया। पुलिस के दो आदमी इक्के वाले से रस्सी लेकर साइकल को इक्के के पीछे बांधने लगे। दूसरे दो भी उसी ओर देख रहे थे। मैंने जरा साइकल पीछे हटा और कमर से पिस्तौल निकाल दो पुलिस वालों को एक-एक गोली मार दी। मिलिटरी का पिस्तौल था। उसकी गोली बहुत बड़ी थी। दोनों एक-एक गोली में ही गिर कर चिल्लाने लगे। शेष दो में से एक साइकल पर भागा और एक सड़क किनारे बंगले की बाड़ के भीतर कूद गया।

काशीराम इक्के से कूद आया और उसने भी एक गोली एक गिरे हुए सिपाही को मार दी। मैंने उससे और भवानीसहाय से एकदम चल देने के लिये कहा और उनके पीछे-पीछे हाथ में थमे पिस्तौल से भागे हुए सिपाही की ओर गोली चलाता हुआ चला गया। एक सिपाही जो साइकल पर समीप के बंगले की ओर गया था, आड़ लेकर मुझ पर गोली चला रहा था पर इतनी दूर से चलती साइकल पर उसका निशाना क्या लगता। उत्तर में मैंने उसकी ओर भी एक गोली चलादी।

लौट कर गुलजारीलाल जी की कोठरी में शरण ली। इस घटना के बाद कानपुर में विचार परामर्श क्या करते। अगले दिन मैं दिल्ली लौट गया।

दूसरे दिन कानपुर के पत्रों में पढ़ा कि दोनों ही सिपाहियों की अवस्था चिंताजनक थी। एक के तो गोली पीठ की ओर से फेफड़े के पास से बाल भर बचती निकल गयी थी, दूसरे के पेट में काफ़ी जख्म कर गयी थी।

दिल्ली से कानपुर जाने के लिये रुपया सुमित्रा दीदी से लिया था। यह भी उन्हें मालूम था कि मैं किसी काम से कानपुर जा रहा हूँ ; मेरे लौटने से पहले ही समाचार पत्रों में कानपुर की घटना छप गयी थी। दिल्ली लौट

कर उनसे मिलना हुआ तो उन्हों ने पूछा—"भैया कानपुर में यह क्या किया तुमने ?"

उनका समाधान किया—"वे लोग खामुखा हमें मारना चाहते थे। अपना बचाव तो करना ही पड़ता है।" घायल हो जाने वाले सिपाहियों के प्रति उन्हें बहुत सहानुभूति थी। कानपुर के वे सिपाही तो काशीराम को ही ढूंढ़ रहे थे परन्तु जाने क्यों सरकार को विश्वास हो गया था कि कानपुर कांड के लिये मैं जिम्मेवार था। मेरी गिरफ्तारी के बाद मुझ पर इस घटना के लिये भी मुकद्दमा चलाया गया था। कुछ दिन बाद राजेन्द्र निगम कानपुर में गिरफ्तार कर लिया गया। इसी मामले में उसे सात वर्ष के लिये जेल में डाल दिया गया। यह अंग्रेज़ी न्याय का एक नमूना था। इस कांड के लिये किसी को तो दंड मिलना ही चाहिये था वर्ना पुलिस का निकम्मापन साबित हो जाता। जो हाथ आ गया वही सही।

सुमित्रा दीदी ने पहले से कह रखा था कि राखी के दिन मैं अवश्य ही दिल्ली में रहूँ। राखी के दिन वे लगभग नौ बजे हमारे यहां आयीं। उन्हें कुछ उदास देख कर पूछा—"क्यों, क्या बात है ?"

"भैया आज मेरी इन्सल्ट हो गयी"—उन्हों ने उत्तर दिया।

"क्यों ?....कैसे ?....क्या हुआ ?"—मैंने पूछा।

उन दिनों गांधी जी गोलमेज़ कान्फ्रेंस के लिये लंदन जाने वाले थे। शायद उसी प्रसंग में नेहरू जी दिल्ली आये थे और नारायणदत्त जी के यहाँ ही ठहरे थे। राखी के दिन सुबह ही सुमित्रा राखी लेकर नेहरू जी के पास पहुँचीं—"मैं आपको भाई बनाने के लिये राखी बाँधना चाहती हूँ।"

"क्यों, क्या जरूरत है ?" नेहरू जी बोले—"मेरी दो बहनें काफ़ी हैं। दुनियाँ भर की लड़कियों को बहन बनाते फिरने का शौक मुझे नहीं है।"

सुमित्रा जी पर घड़ों पानी पड़ गया। चुप खड़ी रह गयीं। उनका मुंह लटक गया। नेहरू जी ने कहा—"अच्छा लाओ बाँध दो।"

सुमित्रा ने मुझ से कहा—"ऐसी अवस्था में मन तो नहीं कर रहा था परन्तु स्वयं ही जाकर कहा था। इसलिये राखी बाँध दी परन्तु बहुत अपमान अनुभव हुआ।"

मैंने हँस कर कहा—"क्यों बाँध दी ? आपको कहना था—"पंडित जी, आपकी बात मेरी समझ में आ गयी। दुनियाँ भर के लोगों को भाई बनाने की क्या जरूरत ?....रहने दीजिये।"

सुमित्रा दीदी को नेहरू जी की बात कड़वी लगना स्वाभाविक था परन्तु उन की बात में गलती क्या थी ? किसी लड़की को बहिन या लड़के को भाई बनाये बिना क्या स्त्री-पुरुषों में परिचय और उचित मित्रता का भाव हो ही नहीं सकता ? मुझे स्वयं दुनियाँ भर की स्त्रियों को माता और बहिन की दृष्टि से देखने के उपदेश का अर्थ यही जान पड़ता है कि हम साधारणतः सभी स्त्री-पुरुषों में यौन सम्बंध की ही आशंका लिये रहते हैं। ऐसे पुरुष भी धन्य ही होंगे जो सभी स्त्रियों के प्रति यौन-भावना रख सकते हैं। एक साधारण स्वस्थ मस्तिष्क से तो ऐसी विराट आसक्ति की आशा नहीं की जा सकती।

एक बार फिर कानपुर से संदेश मिला कि मिल कर संगठन के सम्बंध में बात कर ली जाये। इस बार मुझे कानपुर नहीं बुलाया गया। हापुड़ में मिलना निश्चय हुआ। भावी कार्यक्रम के सम्बंध में मैंने प्रस्ताव रखा कि हमारे दल का आधार हमारी विचारधारा है। इन विचारों के प्रति सहानुभूति फैला कर हमें सर्वसाधारण में दल का विस्तार करना चाहिए। जहाँ भी हमारे विचार के लोग हों हमारा कार्यक्रम स्वयं चलता रहे इत्यादि इत्यादि। सुरेन्द्र पांडे के भी ऐसे ही विचार थे। क्रियात्मक रूप से मेरा प्रस्ताव था कि हम सभी को यथासम्भव व्यक्तिगत रूप से स्वावलम्बी बन जाना चाहिये। विचारों के प्रचार का हमारे लिये एकमात्र साधन गुप्त प्रेस हो सकता है इसलिये हम लोगों को जहाँ सम्भव हो प्रेसों में कम्पोज़ीटरी या प्रेस के दूसरे कामों में समा जाना चाहिये ताकि फिलहाल निर्वाह के लिये डकैती अथवा माँग-ताँग से छुट्टी मिले।

मेरे इस प्रस्ताव से पांडे या और भी कोई दूसरा साथी सहमत दिखाई नहीं दिया। पांडे का विचार जान पड़ता था कि जहाँ भी आवश्यकता हो, शस्त्र लेकर डकैती करने या ऐसे कामों की जिम्मेवारी यशपाल पर रहे, वह इन कामों के लिये उपयुक्त है। दल का सैद्धान्तिक मार्ग निर्देशन और संगठन पांडे करते रहें। यह बात मुझे कुछ अच्छी नहीं लगी। रात में विलम्ब हो जाने से किसी परिणाम पर पहुँचे बिना बातचीत छोड़ कर हम लोग फर्श पर बिछी चटाई पर इधर-उधर लुढ़क कर सो गये थे। सुबह नींद खुलते-खुलते कान में आवाज़ पड़ी। मेरी पीठ की ओर दो साथी

काफ़ी ऊँचे और खिन्न स्वर में बात कर रहे थे। बात अपने ही सम्बंध में जान पड़ी इसलिये चुपचाप सुनता रहा—"…बाह साहब, यह हमें कम्पोज़ीटर बन जाने की सलाह दे रहे हैं।……वायसराय की ट्रेन के नीचे बम चलाने के लिये बिजली का बटन क्या दबा दिया अपने आपको जाने क्या समझने लगे…" कुछ देर बाद उठ कर बैठा तो यह प्रकट नहीं किया कि मैं उनकी बात सुन रहा था। अपने मन में निश्चय कर लिया कि इन लोगों को मुझ पर विश्वास नहीं है। हापुड़ से चलने के लिये तैयार होकर मैंने इतना कह दिया—"आप स्वयं फैसला कर लीजिये। मुझे आप लोगों का निर्णय जँचेगा तो साथ दूंगा।"

लगभग इसी समय की बात है। एक दिन सूर्यास्त से कुछ पूर्व चावड़ी बाज़ार की घनी भीड़ में से फ़ुटपाथ पर जामा-मस्जिद की ओर चला जा रहा था। सहसा क्या देखता हूँ कि ठीक मेरे सामने ही कानपुर की घटना के चार सिपाहियों में से एक चला आ रहा है। बस, दो ही कदम का अन्तर रह गया था कि हम दोनों की आँखें अचानक चार हो गयीं। हमारा पीछा करने वालों में यह आदमी इक्के पर था। उसके पहलवानी ढंग, पहनाव और पक्के सांवले रंग के कारण पहचानने में कोई दुविधा नहीं हुई। वह उस समय भी कुरता धोती ही पहने था। मैं भी अवसरवश उस समय कानपुर की घटना के समय की तरह धोती ही पहने था। दो आदमियों के गोली खाकर गिर पड़ने पर यही आदमी भाग कर सामने के बंगले की आड़ से मुझ पर गोली चलाने लगा था।

सिपाही से आँखें चार होते ही मैंने सांस भर कर उसकी आँखों में घूर कर देखा। वह चोटी से एड़ी तक काँप उठा। मैं कमर पर हाथ रख कर एक ओर हो गया और आँखों से इशारा किया—चुपचाप चले जाओ!

सिपाही बहुत तेज़ चाल से एक दम चल पड़ा। मैं वैसे ही खड़ा उसकी ओर देखता रहा। प्रायः तीस कदम जाकर उसने घूम कर पीछे की ओर देखा। मुझे वैसे ही खड़े देख वह दौड़ पड़ा। मैं समीप की गली में से घुस खूब तेज़ चलता हुआ देखता जा रहा था कि कोई पीछा तो नहीं कर रहा। अपनी जगह पहुँचा। सोचा, इस समय सिपाही निश्चय ही निशङ्क रहा होगा। प्राणों के भय ने उसे कैसे चुप करा दिया। हैदराबाद स्टेशन वाली घटना भी याद आयी। यह आदमी कोतवाली में जाकर यदि मुझे देख कर भी चुपचाप भाग आने की बात कहता तो खामुखा बरखास्त ही होता।

इस सिपाही से एक बार फिर सामना हुआ। यह विकट परिस्थिति थी। उसे मुझे पहचानने के लिये ही लाकर सामने खड़ा कर दिया गया था पर वह पहचान ही न सका। यह रहस्य प्रसंग आने पर ही बताऊँगा।

अब मेरे दिमाग़ में फिर रूस जाने का खयाल प्रबल हो उठा। सोच लिया, जिन लोगों को मुझ पर विश्वास नहीं, उनकी मुझ पर क्या जिम्मेवारी। प्रकाशवती ने भी यही सलाह दी।

इन दिनों दिल्ली में लाहौर नेशनल हाई स्कूल के हैडमास्टर गुरुदत्त जी से मुलाकात हो गयी। उन्हों ने भरोसा दिया—"तुम अगर विदेश जाना चाहते हो तो प्रकाशवती हमारे यहां रह जायंगी।" गुरुदत्त जी नेशनल स्कूल टूट जाने के बाद उत्तर प्रदेश के अमेठी ताल्लुके में, राजा साहब के प्राइवेट सेक्रेटरी का काम कर रहे थे। एक तरह से बात तय ही हो गयी। प्रभुदत्त से बात की। उस ने सलाह दी कि रुपये का कुछ तो प्रबन्ध मैं कर दूंगा कुछ सुमित्रा दीदी से कहो। सुमित्रा तो पहले ही इस बात पर जोर दे रही थीं कि मैं विदेश चला जाऊं।

प्रकाशवती गुरूदत्त जी के साथ अमेठी चली गयीं। दिल्ली वाला मकान छोड़ दिया। मेरा यह खयाल था कि सरहद्द के रास्ते रूस पहुँचने के प्रयत्न में बहुत संकट होगा। कहीं पठान लुटेरों ने ही समाप्त कर दिया तो क्या फायदा? या रूस की सीमा में पहुँचने पर जासूस समझ लिया गया और जेल में डाल दिया गया तो क्या फायदा? क्यों न ऐसे लोगों के माध्यम से जाऊं जिन का रूस से सम्पर्क हो! तभी वहां मेरा विश्वास किया जा सकेगा। इस विचार का एक कारण यह था कि एम० एन० राय रूस से भारत लौट आये थे और अभी गिरफ्तार नहीं हुए थे। उस समय वे डाक्टर अहमद के नाम से बम्बई में थे। किसी एक सूत्र से उन्होंने मुझ से मिलने की भी इच्छा प्रकट की थी। उस समय तक मैं भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और एम० एन० राय के कार्यक्रम के भेद के विषय में कुछ नहीं जानता था। मेरठ षड्यंत्र का मामला चल रहा था। मैं मेरठ जाकर इस केस के जमानत पर रिहा अभियुक्त हचिन्सन से मिला और इच्छा प्रकट की कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से मुझे यह प्रमाण पत्र दे दिया जाये कि मैं अंग्रेज सरकार से लड़ने वाला फरार क्रान्तिकारी हूँ और विश्वास के योग्य हूँ।

हचिन्सन ने आश्वासन दिया---इसमें विशेष कठिनाई नहीं होगी परन्तु इसके लिये तुम्हें बम्बई जाना होगा। उन दिनों कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन

दूसरे ढंग का था। उस वर्ष सुहासिनी पार्टी की प्रेज़ीडेंट थी। मैं जब बम्बई पहुँचा वे बीमार थीं। साथी रणदिवे से बात हुई। यह लोग प्रमाण पत्र देने में हिचक रहे थे कि यदि मैं कहीं गिरफ्तार हो गया तो मेरे पास उनका प्रमाण-पत्र मिलने से, उनकी पार्टी और आतंकवादियों में सम्पर्क होने का प्रमाण बन जायगा। अलबत्ता वे ऐसे आदमियों से परिचय करा देने के लिये तैय्यार थे जिनकी सहायता से समुद्री रास्ते से विदेश जाना सम्भव होता। बम्बई में उनके स्थानों पर रहते समय मेरा शस्त्र रखना वे उचित नहीं समझते थे।

मैंने रणदिवे से एम० एन० राय से मिलने के विषय में भी बात की। यह सुन उन्होंने कहा—"यह तुम स्वयं निर्णय कर लो परन्तु यदि तुम एम०एन० राय से सम्पर्क रखना चाहते हो तो हमारी पार्टी से कोई आशा न करो। यह मुझे इसके बाद ही पता चला कि एम०एन० राय भारत लौटने से पहले कम्युनिस्ट इंटर नेशनल से झगड़ कर आये थे और उनके विरुद्ध चीन में विश्वासघात कर आने का आरोप था।

मैं बम्बई से लौट आया कि सब बातों का निश्चय कर के ही यहाँ आकर बाहर जाने की व्यवस्था करूँगा। अमेठी गया कि प्रकाशवती से बात कर आऊँ। वे पहले की ही तरह तैयार थीं। लौटते समय प्रतापगढ़ स्टेशन पर गाड़ी बदलने के लिये वेटिंग रूम में प्रतीक्षा कर रहा था। गुजराती सेठों की तरह लम्बा कोट, महीन धोती और टोपी पहने था। सहसा देखा कि पूरा स्टेशन पुलिस से घिर गया है। चोर की दाढ़ी में तिनका। यही खयाल आया किसी तरह पुलिस को मेरे वेटिंग रूम में होने का सन्देह हो गया है। इस जगह से बिलकुल अपरिचित था। सोचा, लड़ कर मरने का समय आ गया। पुलिस कायदे से कुछ-कुछ अन्तर पर खड़ी थी। मैंने सूटकेस को कमरे के बीचोंबीच पड़ी मेज़ पर खोल कर रख लिया कि देर तक लड़ने के लिये इसकी थोड़ी-बहुत आड़ रहेगी। दरवाज़ा जालीदार था। बाहर मैं स्पष्ट देख सकता था पर बाहर से भीतर कम दिखाई दे सकता था। बार-बार झांक कर देख रहा था कि यह लोग वेटिंग रूम की तरफ़ आते ही होंगे। आखिर देखा कि दो इन्स्पेक्टर अपनी पगड़ियों के झब्बे ठीक करते हुए वेटिंग रूम की ओर आ रहे हैं। दोनों के कंधे से वर्दी के साथ रिवाल्वर भी लटके हुए थे। पीछे-पीछे कुछ सशस्त्र कान्स्टेबल भी थे। झट जाकर सूटकेस के पीछे हो रिवाल्वर पकड़ कर उसका सेफ्टीकैच हटा दिया कि उसके भीतर कदम रखते ही पहली चोट मैं ही करूँगा।

एक कान्स्टेबल ने दरवाजा खोला। इन्स्पेक्टर ने भीतर झांका परन्तु मुस्करा रहा था और बहुत सलीके से सलाम कर बोला—"आदाब अर्ज है, आपको कुछ जहमत होगी।" उसके ढंग से रिवाल्वर को चुपके से सूटकेस में ही छोड़ मैंने भी बहुत विनय से उत्तर दिया—"आइये तशरीफ़ लाइये, क्या हुक्म है?"

इन्स्पेक्टर ने बताया—"गवर्नर साहब की स्पेशल का इंजन यहाँ पानी लेगा। ऐसे वक्त कायदा यह है कि स्टेशन पर मुसाफिर नहीं रहते हैं। तकलीफ़ न हो तो सामान को ताला लगवा कर जरा बाहर टहल आइये।"

आश्वस्त हो मैंने बम्बइया हिंदी में उत्तर दिया—"जैसा आप का कायदा और हुक्म! हम तो कुछ इस में नहीं जानता। पर हम गाड़ी बदलने को बैठा था। इधर कोई जगह जानता नहीं।"

"तो फिर जरा तकलीफ़ कीजियेगा कि जितनी देर स्पेशल यहाँ रहे, आप बाहर न आइयेगा, यही आठ दस मिनिट! परेशानी तो होगी लेकिन मजबूर हूँ, कायदे से!" बात आयी गयी। पर इस घटना से इतना तो स्पष्ट ही है कि सदा ही कितना तनाव दिमाग़ पर बना रहता था।

मसूरी पहुँचा। क्योंकि सुमित्रा दीदी मसूरी में थीं। उनसे रुपये के सम्बंध में बात करनी थी। मसूरी जाने वाले साहब लोगों की ही पोशाक में था। सन्देह से परे बड़े होटलों में जाने के खर्चे से भय था। यों भी पूछ-ताछ से बचने के लिये होटल ठीक नहीं थे। एक बड़े बंगले पर लिखा था—किराये के लिये कमरे खाली। जाकर बात की। उन्होंने पूछा—"परिवार साथ है या अकेले ही हैं?" समझा अकेले आदमी को जगह देने में घबरा रहे हैं। सान्त्वना दी—"जगह मिल जाये तो पत्र लिख दूंगा। पत्नी आ जायगी।" जगह मिल गयी।

सुमित्रा दीदी के यहाँ मिलने के लिये पहुँचा। उनकी बड़ी बहिन ही पहले मिलीं। देहली में कभी उनके यहाँ जाता था तो खद्दर की धोती, कुर्त्ता और टोपी पहने रहता था। उन्हों ने सुमित्रा से जी मेरे विषय में पूछा था तो सुमित्रा जी ने कह दिया था—"एक डाक्टर हैं। कांग्रेस में काम करते हैं।"—"डाक्टर हैं, प्रैक्टिस तो क्या चलती होगी इनकी?"—उनकी बहिन ने पूछा था और उन्होंने उत्तर दे दिया था—"हाँ, ऐसे ही होमियोपैथ हैं बेचारे।"

इस बार मैं उनके यहाँ गया तो बिर्चिस, कोट और टाई पहने था। बहिन जी को पहचानने में उलझन हुई और पहचाना तो ताने से बोलीं—"कहिये डाक्टर साहब, खद्दर कहाँ गया?"

"अब क्या जरूरत है खद्दर की"—मैंने उत्तर दिया—"वह तो स्वराज्य पाने के लिये ही था। गांधी जी स्वराज्य लेने लंदन (गोलमेज़ कान्फ्रेंस में) गये तो हैं। अब क्या जरूरत है खद्दर के झगड़े की?" बहिन जी इस उत्तर से क्या संतुष्ट होतीं।

सुमित्रा जी से मालूम हुआ कि मसूरी में वे कुछ भी नहीं कर सकतीं। दिल्ली जाकर ही कुछ सोचेंगी। दिल्ली वे तभी जातीं जब उनका परिवार जाता। लाइब्रेरी बाज़ार में से जाते समय अचानक लाहौर की एक परिचित कुमारी जी मिल गयीं। देख कर बहुत प्रसन्न हुईं। उनके साथ ही दिल्ली के प्रसिद्ध कांग्रेसी कार्यकर्ता सूरी परिवार की लड़की भी थी। वे दोनों अपने यहां ले गयीं। उन्हों ने प्रकाशवती के सम्बन्ध में पूछा—"....कहां हैं?" उत्तर दिया—"वह कहीं और हैं।"

वे दोनों कुमारियां किसी के यहां मेहमान थीं। वहाँ जगह कम ही थी परन्तु उन्हों ने उदारता से साथ रहने का निमंत्रण दे दिया। उन्हें बताया कि जगह तो काफी बड़ी ले चुका हूँ यों ही पड़ी है। "तो हम लोग ही वहां चली चलें!"—तुरन्त उत्तर मिला।

"मुझे तो कुछ एतराज नहीं"—मुस्कराकर उत्तर दिया—"मेरे साथ रहने में जो खतरा है उसके अतिरिक्त यह भी झंझट है कि बंगले में रहने वाले पड़ोसी आप में से एक को मेरी पत्नी समझ लेंगे। क्योंकि मैंने उन्हें कह दिया है कि मेरी पत्नी आने वाली हैं।" मिस सूरी तो जोर से हंस दीं—"उसमें क्या है।" परन्तु दूसरी कुमारी जी को यह बात अपमानजनक लगी। सम्भव है मेरे मुस्कराकर कहने में कोई विशेष अभिप्राय जान पड़ा हो। उनका क्रोध और भी बढ़ गया। क्योंकि अगले ही दिन उन्हों ने मुझे प्रकाशवती के साथ सड़क पर देख लिया। उन्हें विश्वास हो गया कि मैंने उनसे झूठ बोला था। बात काफ़ी बढ़ गयी।

प्रकाशवती अचानक ही मसूरी पहुँच गयी थीं। उन्हें मेरा पता भी मालूम न था। बात यह हुई कि अमेठी में सन्देह का कोई कारण हो जाने से उन्हें वहां से तुरन्त हट जाना पड़ा। यह उन्हें मालूम था कि मैं मसूरी गया हूँ। वे

मसूरी आ गयीं और नारायणदत्त जी का बंगला पूछ कर सुमित्रा जी के यहां पहुँच गयीं। मैं स्वयं सड़क पर प्रकाशवती को सुमित्रा जी के साथ देखकर विस्मित रह गया था।

सूरी परिवार की दोनों बहिनों ने हमें आश्रय देने और सहायता करने के लिये प्रस्ताव किया कि वे लोग देहरादून में एक मकान किराये पर ले रही हैं। मैं और प्रकाशवती चुपचाप उनके साथ रह जायें। हम लोगों को ऐसा निमंत्रण देने का अर्थ भय और आशंका को न्योता देना भी था। अस्तु, यही किया। मकान खुड़बड़े मुहल्ले के परे बंदाल नदी के किनारे था। बड़ी शान्ति के दिन थे। समय मिला तो मैंने पढ़ना शुरू कर दिया और आस्कर वाइल्ड के एक नाटक 'वीरा दि निहिलिस्ट' का अनुवाद भी कर डाला। किसी काम से दिल्ली गया था। इन लोगों की मार्फत दिल्ली में हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस के मैनेजर देवीप्रसाद जी शर्मा से परिचय हो गया। उनसे अनुरोध किया कि मैं लिख सकता हूँ। यदि कोई प्रकाशक चाहे तो मेरी लिखी चीजों को चाहे जिस नाम से या एक निश्चित नाम से प्रकाशित करता रहे और मुझे पारिश्रमिक दे दिया करे। मैं स्वयं कमाकर अपना निर्वाह करना चाहता हूँ। शर्मा जी ने आश्वासन दिया कि यत्न करेंगे। उन्होंने उस समय के एक सफल प्रकाशक ऋषभचरण जी जैन से परिचय करा दिया। वे लुई फिशर की पुस्तक 'गांधी और लेनिन' का अनुवाद करवाना चाहते थे। छः सात सौ पृष्ठ की अच्छी बड़ी पुस्तक थी। ऋषभचरण जी ने दो सौ रुपया तो मुझे पेशगी ही दे दिया। मैंने सोचा, चलो यह कुछ विश्राम का समय आया।

ऋषभचरण जी ने एक और भी अनुरोध किया कि मैं एक बार उनके मकान पर अवश्य आऊँ। शर्मा जी के साथ वहां गया। बैठक में बैठा था। ऋषभचरण जी कपड़ों में लिपटा एक बन्डल-सा हाथों पर सम्भाले भीतर से ले आये। समीप आने पर देखा तो प्रायः उसी दिन का जन्मा एक बालक था। बोले—"मेरा पुत्र है। इसे अपनी गोद में लेकर आशीर्वाद दे दीजिये कि आपके ही समान शूरवीर और साहसी हो!"

समझाया कि मैं शूरवीर नहीं हूँ। जैसी परिस्थितियाँ आ पड़ी हैं अपना कर्त्तव्य समझ कर निभा रहा हूँ। पर वे भला क्यों मानने लगे। आशीर्वाद भी दिया। जाने वे नौनिहाल कितने शूरवीर बने होंगे?"

अपनी कमाई का भी कुछ पैसा हाथ आने लगा तो हम लोग ज़रा ढंग से रहने लगे। करणपुर में डी०ए०वी० कालिज के पीछे एक छोटा-सा सुथरा

मकान ले लिया। बांस की बनी मेज़ कुर्सी भी ले आये और खिड़कियों में पर्दे लगा लिये। मैं दिन भर अनुवाद किया करता। संध्या समय घूमा करते। देहरादून में कई परिचित भी मिल गये परन्तु सभी विश्वास के योग्य थे। नयी जगह नया परिचय नये नामों से करते थे। सुमित्रा दीदी का दिया हुआ डाक्टर का खिताब भी साथ चिपका हुआ था। पहनने के लिये प्रभुदत्त, सुमित्रा दीदी और जसवन्तसिंह की कृपा से अच्छा खासा सूट और रेशमी कमीज़ें थीं। चौधरी रामधनसिंह ने स्वयं बना कर एक जोड़ा सुन्दर बूट भी दिया था इसलिये सम्मानित भी जान पड़ता था।

मिस सूरी पहले भी देहरादून रह गयी थीं। घूमते-फिरते उनकी परिचित, उनकी ही आयु की एक मराठी अध्यापिका से भी परिचय हो गया। उनसे यह मुलाकात मेरी और प्रकाशवती की अलग-अलग हुई थी। मिस सूरी ने प्रकाशवती का परिचय पहले रिश्ते की बहन के रूप में दिया था। मुझसे मुलाकात होने पर मेरा परिचय रिश्ते के भाई डाक्टर के रूप में कराया। एक साथ मिलने पर हमारा सम्बंध पति-पत्नी का कैसे बताया जा सकता था? इसलिये डाक्टर साहब को कुंआरा ही बता दिया गया। डाक्टर साहब के कपड़े-लत्ते काफ़ी अच्छे थे। बताया, विलायात से पास कर के आये हैं। बम्बई में प्रैक्टिस अभी ही शुरू की है। मसूरी आये थे। देहरादून में भी कुछ दिन रह गये हैं। कुआरे, युवा और सम्पन्न डाक्टर के प्रति बीसेक वर्ष की कुमारी बेटी की माँ का सहृदय हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

अध्यापिका और उनकी माँ के पड़ोस में एक ओर उसी आयु की बंग कुमारी अध्यापिका भी थीं। इनके पिता उस समय देहरादून आये हुए थे। उन्हें भी डाक्टर साहब का परिचय पाकर बहुत सुख हुआ। सप्ताह में एक दिन इधर चाय हो जाती तो दूसरे दिन दूसरी ओर। यह सब सहृदयता यशपाल के रूप गुण के प्रति नहीं, विलायत से पढ़ कर आये, बम्बई में हार्नबाई रोड पर प्रैक्टिस शुरू करने वाले, अभी अविवाहित डाक्टर प्राणनाथ के प्रति थी। बंग कुमारी के पिता इलाहाबाद में, सम्भवतः पायोनियर के सम्वाददाता थे इसलिये बातचीत में उन्होंने इंगलैंड और लन्दन के विषय में कुछ जिज्ञासा की। इतने इंगलिश उपन्यास पढ़ चुका था कि कई स्थानों के नाम बता कर उनका समाधान कर सकता था।

एक दिन अध्यापिका की माता का संदेशा मिला कि उनकी तबीयत ख़राब है। डाक्टर साहब देख जायें तो बड़ी कृपा हो। यह झूठ के पाल में पहला

तीर लगा। अस्तु, जाना तो पड़ा और जाकर कहा कि मैं तो डेन्टिस्ट डाक्टर हूँ। आपको ज्वर है। किसी दूसरे डाक्टर को बुला लें। आखिर वृद्धा के दाँत में कष्ट कब तक न होता। वह दिन भी आ ही गया। दाँत का कष्ट स्वयं भी काफ़ी भुगत चुका था। कई बार डेन्टिस्टों के यहाँ जाना पड़ा था। सो वृद्धा का मुंह खुलवा और बिजली की टार्च से बहुत ध्यान से देख कर कहा—"आप के दांत में काफ़ी खराबी है। मेरे औज़ार यहाँ हैं नहीं। आप किसी डेन्टिस्ट के यहाँ दिखाइये। दरद रोकने के लिये एस्परीन की पुड़िया खाकर क्लोव आयल की फुरेरी लगा लीजिये। कहने को तो बात बन गयी पर बनी रह न सकी। कैसे, यह गिरफ्तारी के बाद के प्रसंग में बताऊँगा, यानि एक बार बोला झूठ कितनी दूर तक पीछा करता है।

रूस जाने की बात टलती ही जा रही थी। इस बीच अपने प्रति पूर्ण विश्वास न होने के तिरस्कार की चोट भी उतनी तीखी न रही। खयाल आने लगा कि जो लोग विश्वास से मेरे साथ काम कर सकते हैं, उनके साथ मिल कर क्यों न फिर से संगठन बांधा जाये? सूरी परिवार कांग्रेस के लोगों में तो खूब परिचित था ही क्रान्तिकारियों में भी कम ऐसे लोग होंगे जिनसे उनका परिचय कभी भी न हुआ हो। जरा सा यत्न करते ही देहली में रामसिंह, हरिबन्धु समझदार और मेरठ में राजेन्द्रसिंह (गारियर) रणधीरसिंह आदि ऐसे लोग मिल गये जो मुझे खोज रहे थे। मेरठ के राजेन्द्रसिंह और रणधीर तो दो-तीन पिस्तौलें भी अपने ही प्रयत्न से ले आये थे। माशो मां भी कानपुर से आकर दिल्ली में मुझे खोज रही थीं। इतने दिन तक दल का संगठन बिखरा रहने और कुछ न होने से वे बहुत विरक्त थीं। उनका विश्वास था कि मैं कुछ कर सकूंगा। पूर्वी उत्तर प्रदेश से कृष्णशंकर श्रीवास्तव ने अपने साथियों के पूरे सहयोग का आश्वासन दिया। उसने दिल्ली में एक आयरिश महिला सावित्री देवी, (उर्फ मिसेज जाफरअली) से भी परिचय कराया। वे बैरिस्टर जाफ़रअली से पृथक होकर मांटेसरी पद्धति से बच्चों की शिक्षा का काम कर निर्वाह कर रही थीं। आयरिश होने के नाते उन्हें अंग्रेज़ों से चिढ़ थी और अब भारत को अपना देश समझ कर विदेशी अंग्रेजी सरकार को इस देश से हटाने के प्रयत्न में साथ देना चाहती थीं। इन सभी लोगों की राष्ट्रीय भावना की दिशा हि०स०प्र०स० की समाजवादी भावना के अनुकूल थी।

सूरी परिवार का सुशीला दीदी और दुर्गा भाबी से भी सम्पर्क था। इतने सहयोग की आशा से उत्साहित होकर मैंने इन दोनों से भी मिल लेना उचित

समझा। पहले सुशीला दीदी से सूरी के मकान पर मुलाकात हुई। दीदी को ऐसा स्वस्थ और इतने अच्छे ढंग से पहने ओढ़े देखने का अवसर न पहले कभी हुआ था और न बाद में हुआ। बहुत अच्छा लगा परन्तु बात करने पर उतना नहीं। उन्होंने साफ़ कह दिया कि उन्होंने बहुत कुछ देख और कर लिया है और इस झंझट में फँसना नहीं चाहतीं। उनके एक-दो दिन बाद दुर्गा भाबी से मुलाकात हुई। उन्होंने उससे कुछ नरम उत्तर दिया—"आप लोग कर रहे हैं तो बहुत अच्छा है। कुछ होता देखूंगी तो मैं भी साथ हो जाऊँगी।" इसका कारण मुझे उस समय यही जान पड़ा कि मेरे सम्बंध में उन्हें जाने क्या-क्या बातें सुनने को मिली हैं। वे अधिकतर सुखदेवराज के ही सम्पर्क में रही थीं।

अपरोक्ष और रहस्य की अवस्था में रहने वालों के बारे में रहस्यमय बातें बन ही जाती है। गैर जिम्मेवार लोगों का कहना ही क्या। उस समय तक समाचार पत्रों में भी दो बार यशपाल की गिरफ्तारी के समाचार पढ़ चुका था। यह भी सुना कि कुछ मेहरबानों ने सहृदय लोगों से यह कह कर कि यशपाल और प्रकाशवती बड़ी संकट की अवस्था में हैं, प्रकाशवती को एक बच्चा हो गया है, रातें पेड़ों के नीचे काटनी पड़ती हैं, काफ़ी रुपया हमारी सहायता करने के नाम पर ले लिया था जो कभी हम लोगों तक नहीं पहुँचा। दूसरी ओर यह भी सुना कि यशपाल शराब की बोतलें पी जाता है। दल के नाम पर हज़ारों रुपया लेकर उड़ा रहा है।

इस किस्से का आधार यह था कि देहली में उन दिनों पंचकुइयां सड़क पर अपने पुराने साथी आनन्दस्वामी जी से भेंट हो गयी थी। आनन्दस्वामी वैद्यक सीखकर कुछ आयुर्वेदीय अमोघ औषधियां बनाने लगे थे। मिलने पर उन्होंने मेरे गिरे हुए स्वास्थ्य के लिये बहुत चिंता प्रकट कर कुछ पुड़ियें और चार बोतलें एक प्रकार के बसंती से रंग के अर्क की दे दीं। यही बोतलें शराब बन गयीं। सफ़ाई देने की ज़रूरत तो नहीं है। परन्तु १९४१ तक मेरे मन में शराब के प्रति एक भयंकर आतंक था। बियर की भी एक बूंद तक मैं अखाद्य समझता था। बाद में ही समझा कि यह कठमुल्लापन भी एक प्रकार का अन्धविश्वास ही है। पर अफ़वाहों का क्या किया जा सकता था? कपड़े तो लोगों ने ऐसे ही बनवा दिये थे जिनसे फिज़ूलखर्ची का आभास हो सकता था।

कृष्णशंकर और राजेन्द्रसिंह ने सूचना दी कि कानपुर के लोग भी चाहते हैं एक बार फिर संगठन सम्बंधी बातें तय कर ली जायें और फिर संयुक्त रूप से और उचित ढंग से काम हो। मिलने के लिये लोगों ने गढ़मुक्तेश्वर का स्थान और समय गंगा-स्नान का मेला निश्चित किया। वहीं मेले में बैठक करना निश्चित हुआ। जनवरी के आरम्भ की कड़ी सर्दी थी। मैं और प्रकाशवती दोनों इस बैठक में गये थे। बैठक में इतने अधिक लोगों को देख कर विस्मय ही हुआ। इससे पूर्व ऐसी बैठकों में प्रतिनिधि रूप में सात-आठ से अधिक आदमी नहीं होते थे। सुरेन्द्र पांडे, माशीमां आदि आये थे। पंजाब से पांडे की बहिन और कुछ लोग जिन्हें मैं जानता नहीं था, भी आये थे। मेरे मन में आशंका हो गयी कि पांडे दल-बल लेकर आया है कि बहुमत से अपनी बात मना सके। मन में खामुखा गुस्सा भर आया कि मुझे यहाँ बुला कर बेवकूफ़ बनाया जायगा।

पांडे ने परिस्थिति स्पष्ट करना आरम्भ किया। सैद्धान्तिक मतभेद मुझे पांडे से कुछ नहीं था। यही स्वीकार नहीं था कि वह सिद्धान्तों और संगठन का काम सम्भाल कर केवल खतरे का सामना करने की जिम्मेवारी मुझ पर डाल दे। पांडे ने सैद्धान्तिक और सशस्त्र दोनों ही तरह के कामों की आवश्यकता बता कर साफ़-साफ़ कह दिया कि सशस्त्र काम के लिये वह अपने आपको अयोग्य समझता है। अपने अनुभव के आधार पर दल का सैद्धान्तिक और संगठनात्मक नेतृत्व वह कर सकता है। सशस्त्र संगठन और कार्य के लिये यशपाल सब से उपयुक्त है। हमें कार्यक्रम को सामूहिक रूप से निश्चय कर लेना चाहिये। पांडे की बात विचित्र लगने का कारण यह था कि इससे पहले सैद्धान्तिक और सशस्त्र सम्बंधी संगठनों को अलग-अलग रखने की आवश्यकता नहीं समझी गयी थी। मुझे यह ध्यान न आया कि सैद्धान्तिक रूप से हम उतने सचेत पहले हुए भी तो नहीं थे।

पांडे ने बात ऐसे ढंग से कही कि सौजन्य और तर्क के नाते उसका विरोध करते नहीं बनता था पर मैंने विरोध में कहा—"दोहरे नेतृत्व की कोई जरूरत नहीं है। अपने लक्ष्य और सिद्धान्त हम जानते हैं। रही बात, इस विषय में बहुमत से निर्णय कर लेने की; यहाँ बहुत से लोग ऐसे हैं जिन्हें हम जानते ही नहीं। निर्णय के लिये वोट केवल मेम्बरों को देना चाहिये।" मेरा संकेत विशेष रूप से पांडे की बहिन और पंजाब से आये, मुझसे अपरिचित साथियों की ओर था।

मेरा विरोध किया राजेन्द्रसिंह ने—"मेम्बर का क्या मतलब है ? जो जान लड़ा कर काम करने के लिये तैयार हैं, सभी मेम्बर हैं और उन्हें राय देने का अधिकार है।" सभी ने उनका समर्थन किया। मैं क्या कहता.........? उसी समय सुरेन्द्र की बहिन बोल पड़ीं—"मेरा प्रस्ताव है कि नेता एक ही होना चाहिये। कमाण्डर-इन-चीफ़ ही सब बातों का और कार्यक्रम का निश्चय करे....." और कमाण्डर-इन-चीफ़ के लिये उन्हों ने मेरा नाम रख दिया। सभी ने, स्वयं पांडे ने भी उसका समर्थन कर दिया। मुझे अपने व्यवहार पर बहुत लज्जा अनुभव हुई। पांडे ने फिर भी सैद्धान्तिक पहलू की उपेक्षा न करने पर ज़ोर दिया और यह भी तय हो गया कि पांडे हमारे सिद्धान्तों के अध्ययन और उनके लिये सार्वजनिक आधार बनाने के लिये विशेष रूप से काम करें। इस बैठक में हम लोगों ने यह भी तय किया कि हमारे भावी कार्यक्रम का रूप आतंकवादी न होकर गोरिल्ला युद्ध के रूप में क्रान्ति का प्रयत्न हो। हम अंग्रेज़ी सरकार के विरोध को सार्वजनिक सशस्त्र रूप दें। बैठक के बाद कृष्णशंकर ने मुझ से बात की कि बंगाल के साथियों का भी एक प्रतिनिधि सम्बन्ध स्थापित करने के लिये आना चाहता था पर इस समय उसका पहुँचना सम्भव न हो सका। वे लोग भी मुझ से मिलना चाहते हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश में कुछ करने की एक आयोजना उनके सामने है। इस सम्बन्ध में ज़रा विस्तार से बात करना आवश्यक है। मैंने इलाहाबाद २२ जनवरी की संध्या पहुँचने का वचन दे दिया।

भविष्य के कार्यक्रम के सम्बन्ध में गढ़मुक्तेश्वर के निश्चय के अनुसार, हमारी कल्पना केवल गिने-चुने पिस्तौल-रिवाल्वरों और बमों पर भरोसा न कर, विद्रोह को सार्वजनिक रूप देने की थी। अंग्रेज़ी शासन की नींव पुलिस के थाने और सैनिक छावनियाँ थीं। देहरादून आकर मैंने एक नया घोषणापत्र लिखा। इसका सार और भाव इस प्रकार था—

"हि०स०प्र०स० की शक्ति जगह-जगह बिखरे हुए कुछ सशस्त्र नौजवान ही नहीं हैं बल्कि देश के करोड़ों आदमी, जिनके हृदय अंग्रेज़ी शासन के अत्याचार और कलंक से जल रहे हैं, देश की आज़ादी के लिये लड़ने वाली शक्ति हैं। देश के सभी श्रम करने वाले किसान और मज़दूर जो आर्थिक और राजनैतिक पराधीनता में अपने मेहनत का फल नहीं पा सकते और मनुष्यों जैसे जीवन से वंचित हैं परन्तु मनुष्य बन कर जीवित रहना चाहते हैं, इस देश के स्वतंत्रता के युद्ध की सेना हैं।

हि०स०प्र०स० ऐसे सभी व्यक्तियों और समूहों से स्वतंत्रता के लिये लड़ाई के प्रयत्न में सहयोग की आशा रखता है। आपके इलाके में अंग्रेज़ शासन का केन्द्र थाना या सैनिक छावनी आपके दमन, आपकी परतन्त्रता की बेड़ी और कलंक हैं। इन स्थानों को नष्ट कर के अंग्रेज़ी शासन को असम्भव बना देने की जिम्मेवारी आप पर है। विदेशी शासन पर चोट करने के लिये राइफलों और बमों की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। विदेशी सरकार के कब्जे में जितने हथियार हैं, वे आप के ही हैं। जो भी साधन आपके हाथ में हों, वही आपके शस्त्र हैं। इस क्रान्ति का मार्ग शोलापुर और चौरीचोरा ने आपको दिखा दिया है। आपको किसी के आदेश की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। अंग्रेज़ सरकार पर प्रत्येक चोट देश की आज़ादी का काम है। देश के पैंतीस करोड़ लोगों की ऐसी इच्छा को संसार की कोई शक्ति दबा नहीं सकती। अंग्रेज़ी सरकार की नौकरी कर, देश को गुलामी में बांधने वाले लोगों को यह चेतावनी है कि उनका काम देशद्रोह है। ऐसे लोगों के सामने वीर गढ़वालियों ने पेशावर में कर्त्तव्य का उदाहरण पेश कर दिया है। देश की शत्रु सरकार की सेवा और सहायता कर्त्तव्य समझना देशद्रोह है। अपने पेट के लिये ऐसा देशद्रोह करने वाले को दण्ड देने का अधिकार प्रत्येक देशभक्त को है। हमारा लक्ष्य देश से देशी-विदेशी शोषण को समाप्त करना और देश के सब परिश्रम करने वालों को आत्म-निर्णय का अधिकार देना है जिसमें सभी स्त्री-पुरुषों को समान रूप से रोज़ी कमाने, विकास करने और अपने परिश्रम का पूरा फल पाने का अवसर होगा। ह० यशपाल"

इस से पूर्व हि०स०प्र०स० के घोषणापत्रों पर आज़ाद 'बलराज' के कल्पित नाम से हस्ताक्षर करते थे। आज़ाद के शहीद हो जाने की बात सभी को मालूम थी और जगह-जगह मुखबिरों के बयानों से यह भी मालूम हो चुका था कि हि०स०प्र०स० के कमांडर-इन-चीफ़ चन्द्रशेखर आज़ाद थे। इस घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करने वाला व्यक्ति काल्पनिक न जान पड़े इसलिये मैंने इस पर अपने असली नाम से हस्ताक्षर किये। पत्रों से यह सभी को मालूम हो चुका था कि फरार यशपाल एक वास्तविक व्यक्ति है, कल्पित जीवन नहीं। यह भी कहा जा सकता है कि इसमें मेरा अहंकार और प्रसिद्धि प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा छिपी थी लेकिन इस कार्य में अंग्रेज़ी सरकार के क्रोध को निमन्त्रण भी कम नहीं था। इससे पहले हम अपने घोषणापत्र केवल अंग्रेज़ी में प्रकाशित

करते थे। इस बार मैंने इसे हिन्दी और उर्दू में मुख्य रूप से छपाये जाने का आग्रह किया।

सोचा कि अब काम करना है तो देश के एक कोने, देहरादून में रहने से नहीं हो सकेगा। उस समय देहरादून आज की तरह भीड़ और कोलाहल से भरा बड़ा नगर नहीं, एक शांत उपवन-सा था। प्रायः वयप्राप्त, कामकाज से छुट्टी लिये हुए लोगों की जगह थी जहाँ कल्पना और कला की साधना निर्विघ्न की जा सकती थी। उसे छोड़, दिल्ली में रहने का निश्चय कर, जनवरी में मैं और प्रकाशवती दोनों ही दिल्ली आ गये। दिल्ली में अभी कोई अपनी जगह नहीं ली थी। सूरी परिवार के मकान में ही टिके हुए थे। इलाहाबाद से लौट कर जगह ठीक करने का विचार था।

जनवरी २२ सुबह की गाड़ी से इलाहाबाद जाना था। रात बैठक की तरह उपयोग होने वाले बड़े कमरे के फर्श पर ही बिस्तर लगा कर सो गया था। सुबह जल्दी उठा तो समीप ही भगत जी (श्रीकृष्ण सूरी के पिता) कम्बल ओढ़े बैठे थे। उन्हें दमे का कष्ट था। नींद कम आती थी। मैं बात करने लगा—"भगत जी, रात बहुत विचित्र स्वप्न देखा।" रात देखा स्वप्न उन्हें बताया—मैं गिरफ्तार हूँ और मुझे फाँसी पर लटकाया जा रहा है। उस समय तक फाँसी लगाने की व्यवस्था देखी नहीं थी उसके विषय में सुना ही था। स्वप्न में दिखाई दिया कि चारों ओर हथियार बन्द पुलिस खड़ी है। दो शहतीरों के ऊपर रखी शहतीर से लटकी खूब सफ़ेद सूत की रस्सी का फंदा मेरे गले में डाल दिया गया है। मुझसे अंग्रेज़ी में पूछा गया—"तुम्हें कुछ कहना है?" मैंने उत्तर दिया—"मुझे कुछ नहीं कहना।" इसके बाद मेरे पाँवों के नीचे के तख्ते को कई बार खींचा गया पर वह हटा नहीं......मेरी आँख खुल गयी।

भगत जी ने स्वप्न सुन कर इसका अर्थ बताया कि कोई आपत्ति मुझ पर आने वाली थी लेकिन टल गयी। आपत्ति आने की आशंका तो बनी ही रहती थी और लोगों से सुन-सुन कर यह भी विश्वास था कि या तो गिरफ्तार होते समय लड़ते हुए मारा जाऊंगा वर्ना फांसी तो होगी ही। आज़ाद की तरह अपनी आखिरी गोली स्वयं सिर में मार लेने का विचार कभी नहीं आया। शायद उतना साहस न था।

इलाहाबाद गाड़ी रात नौ-साढ़े नौ पहुँचती थी। कृष्णशंकर श्रीवास्तव ने इलाहाबाद अपने मिलने का पता ह्विवेट रोड, कृष्णा होटल के ऊपर आयरिश

महिला सावित्री देवी का मकान बताया था। मेरा इरादा था कि अपनी पुरानी परिचित जगहों में से कहीं ठहर जाऊंगा और सुबह जाकर कृष्णशंकर से मिल लूंगा। वह स्टेशन पर ही लेने आ पहुँचा था। यह आदर कुछ अधिक ही जान पड़ा। वह लेने आया था तो उसी के साथ जाना पड़ा। उसने आयरिश महिला के ही मकान पर पहुँचा दिया। यह मुझे उसी समय खटका। खटका इसलिये कि देशी पोशाक और देशी बस्ती में रहने वाली योरुपियन महिला की ओर सभी का ध्यान जाता था। मेरे वहां जाने से मेरी ओर भी ध्यान आकर्षित होता। मैं ऐसी स्थिति से सदा बचने की कोशिश करता था। सावित्री जी ने इतनी आत्मीयता से आतिथ्य किया कि कुछ कह ही नहीं सकता था।

मैं सो जाने की तैयारी करने लगा। अपना गरम कोट खूंटी पर टांग दिया था। आज़ाद का मुझे विशेष रूप से दिया आठ गोली का बड़ा पिस्तौल और फालतू मैगज़ीन इसी कोट की जेब में थी। सोते समय मैं पिस्तौल और मैगज़ीन तकिये के नीचे रख लेता था।

सोते समय पिस्तौल तकिये के नीचे रख लेना स्वभाव बन गया था। पिस्तौल तकिये के नीचे मौजूद होने की चेतना नींद में भी बनी रहती थी। इसके परिणाम स्वरूप एक बार विकट घटना होते-होते रह गयी। उस साल बरसात में हम लोग देहरादून के खुड़बड़े मुहल्ले में थे। एक रात बरान्दे में सो रहे थे। मेरी चारपाई से प्रायः पांच-छः फुट परे सूरी की बड़ी बहिन अपने कुछ मास के बच्चे के साथ सो रही थीं। बीच में स्टूल पर हरीकेन लालटेन जल रही थी। खटमल काटने से बच्चा रो पड़ा। मां ने उठ कर बिस्तरे से खटमल बीनने शुरू किये। उनकी नज़र मेरे तकिये की ओर गयी तो वहां भी एक मोटा खटमल चलता दिखाई दिया। खटमल काटने से मैं भी परेशान होऊँगा, इस विचार से वह मेरे तकिये से खटमल पकड़ने लगीं। खटमल तकिये के नीचे घुस गया। खटमल को पकड़ने के लिये उन्होंने तकिये का सिरा उठाया ही था कि मैंने नींद की अर्द्ध-चेतना में हाथ मार कर उनका हाथ परे हटा दिया। दूसरे हाथ से पिस्तौल उठा, उनकी ओर लक्ष्य किया ही था कि वे चिल्ला उठीं—"भैया.....!" तब तक मैं सुध में आ गया।

श्रीवास्तव ने कहा—"मैं मिलने वालों से सुबह का समय और स्थान निश्चय कर आऊं। अब मुनद दी पांच-साढ़े पांच लौटूंगा। बाहर जाने के लिये

उठ कर अपना अलवान उसने एक ओर डालते हुए कहा—"भैया, बड़ा जाड़ा है। तुम्हारा कोट पहन जाऊँ ?"

मैंने उसे पिस्तौल निकाल कर मुझे दे देने और कोट ले जाने के लिये कह दिया। श्रीवास्तव ने दीवार के समीप पड़े रिवाल्वर की ओर संकेत कर कहा—"यह है रिवाल्वर। मदर के पास और भी है।"—श्रीवास्तव सावित्री जी को मदर या मां कह कर सम्बोधन करता था और वे भी उसे पुत्र ही मानती थीं। वह सुबह तड़के जल्दी लौटने के लिये कह कर चला गया।

उसके जाते ही समीप पड़े रिवाल्वर को तकिये के नीचे रखने से पहले मैंने गोलियाँ निकाल कर खाली चला कर देखा तो पाया कि उसकी चर्खी अटकती थी पर दूसरे हाथ से घुमा देने से चल पड़ती थी। दो-तीन बार रवां कर के देखा और रिवाल्वर तकिये के नीचे रख कर सो गया। दूसरे रिवाल्वर के विषय में मैंने पूछा ही नहीं।

सुबह जल्दी नींद खुल जाने की मेरी आदत बचपन से चली आती है। नींद खुलने पर घड़ी देखी, सवा पांच बजे थे। देखा कि सावित्री जी भी उठ बैठी हैं। उन्होंने पूछा—"चाय बनाऊँ ?" उठते ही बिस्तरे में एक प्याला चाय मिल जाना भी अच्छा लगता है। वे स्पिरिट-स्टोव जला कर चाय बनाने लगीं। खयाल आया, श्रीवास्तव आता ही होगा।

सावित्री जी की जगह दूसरी मंजिल पर थी। जीने पर आहट मालूम हुई। मैंने सोचा, श्रीवास्तव होगा पर आहट कुछ अधिक जान पड़ी।

"कोई आ रहा है"—सावित्री जी ने कहा।

"यह तो कई लोगों के आने की आहट है"—मैंने उत्तर दिया।

दरवाजा खटका और खटकाने के ढंग में धमकी-सी जान पड़ी।

"कौन है ?"—सावित्री जी ने अंग्रेज़ी में पूछा।

"दरवाजा खोलो !"—दूसरी ओर से अंग्रेज़ी में हुक्म आया।

"मैं पूछती हूँ, कौन है ?"

"पुलिस ! जल्दी दरवाजा खोलो !"

रोएं खड़े हो गये। मेरे मस्तिष्क में बिजली-सी दौड़ गयी—अंतिम समय आ गया। सावित्री जी ने मेरी ओर शंका से देख कर दरवाज़े की ओर उत्तर दिया—"पुलिस को यहाँ क्या काम है ?"

"हम मकान की तलाशी लेना चाहते हैं । जल्दी खोलो नहीं तो दरवाज़ा तोड़ दिया जायगा ।"—बातचीत अंग्रेज़ी में ही हुई ।

सावित्री जी ने मेरी ओर देखा ।

"आप दरवाजा खोल दीजिये और एक तरफ हट जाइये । मैं लड़ूंगा । आप बीच में न आइयेगा । आप दरवाज़ा खोलिये ।"—मैंने तकिये के नीचे से रिवाल्वर लेते हुए कहा ।

सावित्री जी दरवाज़े की ओर गयीं । मैंने दरवाज़े की ओर रिवाल्वर साधा कि दरवाज़ा खुलते ही भीतर आने वाले पर गोली चलाऊंगा । तुरन्त ख्याल आया कि पहिले गोली सावित्री जी को ही लगेगी और जगह देखूं । मैं भीतर के कमरे की ओर गया । ऐसे समय तर्क का अवसर तो रहता नहीं । पहले से जमे विचार ही काम करते हैं । मन में दोनों ही बातें थीं; भाग जाने की कोई राह मिल जाये तो भाग जाऊँ नहीं तो आड़ लेकर अच्छी तरह लड़ूं ।

मकान से अपरिचित था । पिछले कमरे के साथ बगल में छोटा आँगन था । आँगन में पहली बार इसी समय गया । सामने अपने सिर से ऊँची नालीदार टीन की दीवार थी । दीवार पर हाथों का ज़ोर देकर दूसरी ओर कूद रहा था । पीठ पीछे से गोली चलने की आवाज़ आयी और मेरे सिर के ऊपर से सनसनाती हुई एक गोली निकल गयी । कूद कर दूसरी ओर चकले पत्थर के फर्श पर गिरा ही था कि समीप भी एक गोली आकर टकरायी ।

मैंने मुड़कर उकड़ूं बैठ कर देखा कि एक योरुपियन टीन की दीवार के कोने से मुझ पर पिस्तौल से गोली मार रहा है । मैंने उसकी ओर गोली चलायी । योरुपियन का सिर नीचे छिप गया । नीचे गली में से धड़ा-धड़ कई गोलियां चलने की आवाज़ें आने लगीं ।

ज्यों ही योरुपियन दीवार के ऊपर सिरा निकाल कर मुझ पर गोली चलाता मैं भी उस पर गोली चला देता । रिवाल्वर अड़ रहा था । उसे हर बार दूसरे हाथ से चालू करना पड़ता था । मेरा प्रतिद्वन्द्वी दो गोलियां मार लेता इतने में मैं एक ही चला पाता । रिवाल्वर में छः ही गोलियां थी । जल्दबाज़ी में और गोलियां नहीं ले सका था । गोलियां समाप्त हो गयीं । मुझ पर चलायी गयी एक भी गोली मुझे नहीं लगी । कुछ तो योरुपियन को अपने बचाव की घबराहट थी, कुछ अंधेरे का दांव । यही बात मेरे साथ हुई ।

मेरी गोलियां समाप्त हो जाने पर जब योरुपियन ने सिर निकाल कर मुझ पर गोली चलायी तो मैंने खाली रिवाल्वर उस पर दे मारा।

इस बार योरुपियन ने सिर उठाया तो पिस्तौल मेरी ओर साध कर भी उसने गोली नहीं चलायी और बोला—"Now you are unarmed." (अब तुम्हारे पास हथियार नहीं है।)

वह एक क्षण के लिये ठिठका। उसका स्वर बदल गया—"अच्छा, इस ओर आ जाइये।......मैं मदद करूँ?"—योरुपियन अफसर ने किसी ऊँची चीज़ पर पांव रख कर अपना हाथ सहायता के लिये टीन की दीवार के इस ओर लटका दिया।

"धन्यवाद!"

मैं सहायता के बिना ही उस ओर जाने के लिये दीवार पर उचका और उस ओर कूद गया। अब देखा कि टीन की दीवार को थामने के लिये दीवार के साथ दो फ़ुट ऊँची थूनी बनी हुई थी। योरुपियन इसी पर पांव रख कर टीन की दीवार के ऊपर से गोली चला रहा था और मुझे सहायता देने के लिये उसने वहां चढ़ कर मेरी ओर हाथ लटकाया था।

"कोई चोट तो नहीं लगी?"—उसने मुझसे पूछा।

"नहीं, धन्यवाद।"—"आशा है आपको भी चोट नहीं लगी होगी।" मैंने पूछा।

योरुपियन ने घुटने के पास मेरे पायजामे पर बने खून के धब्बे की ओर संकेत किया—"यह दाग कैसा है?"

मैंने टटोल कर देखा और उत्तर दिया—"कुछ नहीं, टीन से खोंच लग गयी है।"

योरुपियन ने अपना परिचय दिया—"मेरा नाम डी० पिल्डिच है। मैं स्पेशल पुलिस का सुपरिन्टेन्डेन्ट हूँ। मैं जानता हूँ, आप मिस्टर यशपाल हैं।"

"धन्यवाद!"

इसी समय एक थानेदार या हैड कांस्टेबल एक अंगोछा बंटते हुए मेरे हाथ बांध देने के लिये आगे बढ़ा। पिल्डिच ने उसे पीछे हटने के लिये कह कर मुझे सम्बोधन किया—"मैं समझता हूँ, इसकी कोई जरूरत नहीं। क्या ख़याल है?"

"जैसा आप उचित समझें ! मेरे खयाल में तो नहीं है।"

पिल्डिच ने कहा—"आप बिस्तर से ही उठे हैं। कपड़े बदल लीजिये। हम प्रतीक्षा करेंगे।"

मैं सोते समय केवल एक कमीज, पायजामा पहने था। "नहीं ऐसे ही ठीक है"—मैंने उत्तर दिया—"ऐसे ही रहता हूँ।"

"नहीं नहीं, हम जानते हैं आप ढंगसे कपड़े पहनते हैं। कोई जल्दी नहीं है। कपड़े पहन लीजिये। बहुत सर्दी भी है।"

"मैं एक कम्बल ले लूंगा, बस !"

"जैसी आपकी इच्छा।"

चलते समय मैंने सावित्री जी को नमस्कार कर क्षमा मांगी—"खेद है, मेरी वजह से आप को भी कष्ट हुआ।"

सावित्री जी ने सिर ऊँचा कर उत्तर दिया—"खेद नहीं, इस बात के लिये मुझे गर्व है।" और पिल्डिच की ओर संकेत कर कहती गयीं—"मैं इन अंग्रेज़ अत्याचारियों से बहुत घृणा करती हूँ।"

स्पष्ट ही था कि मुकद्दमे में अज्ञान की आड़ लेकर सज़ा से बच जाने की इच्छा उन्हें नहीं थी।

पिल्डिच ने थानेदार को हुक्म दिया—"इस घर की तलाशी लेकर मुनासिब कार्रवाई की जाय।"—और मुझे लेकर एक दूसरे अफ़सर और तीन-चार कांस्टेबलों के साथ नीचे उतर आया। नीचे सड़क पर एक कार और दो-तीन पुलिस लारियां खड़ी हुई थीं। कांग्रेस का झण्डा लिये कुछ लोग विस्मय में एक ओर खड़े थे। यह राष्ट्रीय सप्ताह—२६ जनवरी की प्रभातफेरी करने वाला दल था। वे लोग देश की स्वतन्त्रता की पुकार कर रहे थे। अपने ढंग से मैं भी यह ही कर रहा था परन्तु हम एक दूसरे के लिये बेगाने थे। गोलियों की आवाज़ से कुछ और लोग भी इकट्ठे हो गये थे।

एक कार में पहले पिल्डिच बैठा, बीच में मुझे बैठाया गया। मेरी दूसरी ओर एक और अफ़सर बैठा। ड्राइवर के साथ सशस्त्र सिपाही था। गाड़ी चल पड़ी। आगे और पीछे एक-एक लारी चल रही थी। कुछ ही दूर जाकर पिल्डिच ने मेरे दूसरी ओर बैठे अफ़सर का परिचय कराया—यह एक डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट मि० मिश्र थे।

मिश्र जी ने बात शुरू कर दी—"आप पंजाबी हैं न ? मैं पंजाब में बहुत दिन रहा हूँ। पंजाबी स्वभाव से बहादुर होते हैं।" वे पंजाबी में बोलने लगे—"बहुत सर्दी है। चल कर चाय पियेंगे या लस्सी ? पंजाबियों को सर्दी में भी लस्सी ही भाती है।"

मैंने ज़रा सख्ती से मिश्र जी की ओर देख कर अंग्रेज़ी में उत्तर दिया—"मुझे इस तरह के मज़ाक पसन्द नहीं हैं।"

मिश्र जी चुप हो गये और एक क्षण बाद उन्होंने उत्तर दिया—"I am Sorry." (मुझे खेद है।)

चिढ़ जाने की कोई बात नहीं थी। कोई ऐसा मज़ाक भी नहीं था। मेरा यह व्यवहार मार खाकर भी सम्मान बनाये रखने का व्यर्थ प्रयत्न था।

गाड़ी कैनिंगरोड पुलिस स्टेशन के भीतर पहुँच गयी। ड्यूटी के लोग दौड़ आये। पिल्डिच ने हवालात की एक कोठरी में एक कुर्सी और छोटी मेज रखने का हुक्म दिया। मुझसे पूछा—"चाय लाने के लिये कह दूँ ?"

"जी हां, धन्यवाद।"

"कोई ज़रूरत हो तो आप सन्देश भेज सकते हैं। शायद मैं स्वयं ही मिलूँ।"

पिल्डिच और मिश्र जी चले गये और हवालात की कोठरी का लोहे की छड़ों का दरवाज़ा बन्द हो गया। एक सिपाही संगीन चढ़ी राइफल लेकर सामने पहरे पर खड़ा हो गया।

साथियों का विश्वास था कि मैं विश्वासघात के कारण पकड़ा गया हूँ। मेरे जेल में रहते समय मुकद्दमे की पैरवी करने वाले वकीलों की मार्फत इस सम्बन्ध में मुझसे भी पूछा गया। जैसे मैंने घटना का वर्णन किया है, मुझे उस समय कृष्णशंकर श्रीवास्तव पर सन्देह था :—उसका मुझे सावित्री जी के यहाँ लाकर टिका देना, मेरा पिस्तौल लेकर चले जाना और सुबह पुलिस का आ पहुँचना, पिल्चिड का स्वयं ही कहना—आप मिस्टर यशपाल हैं आदि बातें बहुत स्पष्ट थीं। मेरे इलाहाबाद आने की बात केवल कृष्णशंकर को ही मालूम थी।

सावित्री जी पर तो मैंने स्वप्न में भी सन्देह नहीं किया। मुझे आश्रय देने के कारण उन्हें चार वर्ष जेल की सज़ा मिली थी। जेल में रहते समय मैंने

अफ़वाह सुनी थी कि किसी ने कृष्णशंकर पर गोली भी चलायी थी पर सफल न हुआ। बाद में वह अपनी रक्षा के लिये सत्याग्रह में जेल चला गया था।

जेल से छूटने पर भी जब लोगों ने यही प्रश्न मुझ से पूछा, मेरा उत्तर था—"अब सब समाप्त हो गया। इस झगड़े को उठाने की जरूरत नहीं।" बहुत दिन तक सोचते-सोचते यह भी खयाल आने लगा था कि सम्भव है उस रात कृष्णशंकर ने जाकर जिन आदमियों से बात की हो उन्हीं ने पुलिस को खबर पहुँचा दी हो। कृष्णशंकर इतना तो समझ ही सकता था कि मेरे सावित्री जी के यहाँ गिरफ्तार होने पर वे भी ज़रूर मुसीबत में फँसेंगी। सावित्री जी के लिये कृष्णशंकर के मन में कुछ आदर होना ही चाहिये था। सावित्री उस पर अन्धविश्वास करती थीं। उन्होंने केवल कृष्णशंकर पर सन्देह ही नहीं किया बल्कि १६३८ में मेरी रिहाई के बाद जब मैं भुवाली में था, वे कृष्ण-शंकर को लेकर मेरे पास आयीं। उन्होंने अनुरोध किया कि मैं लिख कर दे दूं कि मुझे कृष्णशंकर श्रीवास्तव पर सन्देह नहीं है।

मैंने उस समय भी उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की। मेरे कारण उन्हें पहुँचे कष्ट के लिये खेद प्रकट किया और कहा—"मैं अब यह नहीं कह सकता कि सोलह आने निश्चय ही कृष्णशंकर श्रीवास्तव ने मेरे साथ विश्वासघात किया है। मुझे मालूम नहीं यह किसने किया इसलिये मैं यह लिख कर भी नहीं दे सकता कि कृष्णशंकर श्रीवास्तव ने यह काम नहीं किया।"

सावित्री जी के मकान पर गिरफ्तार होते समय जब मैंने अपने कारण उन्हें होने वाली परेशानी के लिये खेद प्रकट किया था तो उन्होंने उत्तर दिया था—"खेद की बात नहीं, मुझे इसके लिये गर्व है।" जेल में रहते समय भी मेरी वकील श्यामकुमारी नेहरू मज़ाक किया करती थीं—"तुमने बुढ़िया पर क्या जादू कर दिया है। सुना है वह हवालात की कोठरी में तुम पर कविता लिखा करती हैं।" लेकिन १६३८ में उनका अनुरोध पूरा न कर सकने के बाद मैंने सुना कि वे लोगों से कहती थीं कि यशपाल बड़ा नीच और कृतघ्न है। अफ़सोस, मैंने उसके लिये कष्ट सहा।

भारत में सशस्त्र क्रान्ति के लिये, हिन्दुस्तानी समाजवादी प्रजातन्त्र सेना द्वारा किये गये प्रयत्नों से सम्बन्ध मेरे संस्मरण तो मेरी गिरफ्तारी की घटना से ही समाप्त हो जाते हैं परन्तु पाठकों की जिज्ञासा के विचार से कुछ और प्रसंगों की चर्चा भी प्रासंगिक हो सकती है, उदाहरणतः जेलों में क्रान्तिकारियों के अनुभव और फिर कांग्रेसी शासन में उनकी जेलों से रिहाई की समस्याएँ।

४

जेल में

हवालात और पुलिस

इलाहाबाद, हिवेट रोड से गिरफ्तार कर मुझे कैनिंग रोड के थाने में पहुँचा कर हवालात में बन्द कर दिया गया। भय और उत्तेजना उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का प्रभाव निश्चय ही मेरे व्यवहार पर पड़ा। परिस्थितियों का मतलब मेरी उस समय की शारीरिक परिस्थिति से तो है ही, साथ ही मेरे मन में बैठी धारणाओं और सम्भावनाओं से भी है। मुख्य धारणा थी कि लाहौर षड़यन्त्र के मामले में यदि सुखदेव को फांसी की सज़ा दी गयी है तो सब मुकद्मों को मिला कर मुझे वह सज़ा न दी जाने का कोई कारण नहीं। इस धारणा में दूसरे लोगों का विश्वास भी सहायक था। मुझे जानने वाले प्रायः सभी लोगों का ऐसा अनुमान था। यह भी आशंका थी कि पुलिस मुझसे अधिक से अधिक कष्ट देकर, अनेक घटनाओं और दूसरे लोगों की बाबत जानना चाहेगी। इन अनुमानों का परिणाम था कि मुझे मृत्यु के लिये और सभी सम्भव कष्ट सहने के लिये तैयार रहना चाहिये। मैंने अपना बस चलते कोई कसर नहीं छोड़ी। अपने शत्रु से भी मुझे ऐसे ही व्यवहार की आशा करनी चाहिये। अपने व्यक्तिगत सम्मान और अपने दल के सम्मान के प्रति मेरा कर्त्तव्य है कि मैं कष्ट को गम्भीरता और साहस से सह कर आत्मसम्मान को सुरक्षित रखूं। इस परिस्थिति और कर्त्तव्य की धारणा के प्रति बहुत अधिक सतर्क रहने की चेष्टा से; यदि मैं तिल भर भी दबा तो फिर दबने का कोई अन्त न रहेगा, व्यवहार में अनावाश्यक उग्रता भी आ गई।

हवालात का दरवाज़ा बन्द होने के प्रायः दस मिनिट बाद एक सिपाही ने आकर पुकारा—"यह चाय ले लो!"

मैं दरवाज़े की ओर पीठ किये बैठा था। पलट कर देखा, आलमीनियम का मैला गिलास दरवाज़े के सींखचों से भीतर रख दिया गया था। सिपाही दो-चार कदम ही लौटा होगा। मैंने वह गिलास उठा कर बाहर फेंक दिया।

पांचेक मिनिट बाद दारोगा साहब आये और सहानुभूति से बोले—"चाय आप ने फेंक दी?"

"मैं ऐसी चाय नहीं पीता हूँ।"—उत्तर दिया

"अच्छा, ट्रे में भिजवा दें?"

"जी हाँ!"

कुछ देर बाद, शायद नज़दीक के किसी होटल से, ट्रे में चाय, दूध और शकर अलग-अलग और प्याली वगैरा आ गयी। दरोगा साहब ने मुआफ़ी भी माँग ली कि यह लोग जंगली जानवर हैं; चाय पीना क्या जानें? दारोगा जी की इस सौजन्यता का कारण मेरे संकट झेलने के उद्देश्य से सहानुभूति थी या मुझे सुसंस्कृत समझना था। खैर, जंगली जानवर की तरह सींखचों में तो मैं ही बन्द था।

आधे या पौन घंटे के करीब और गुज़रा होगा। कोठरी के बाहर बहुत दौड़-धूप और मुस्तैदी दिखाई दी। दो सिपाही राइफलों पर संगीनें चढ़ा कर खड़े हो गये। हवालात का दरवाज़ा खुला। दो अंग्रेज़ों ने कोठरी में प्रवेश किया। एक जरा भारी से कद का नाटा-सा और दूसरा अच्छा कद्दावर था। दोनों ही प्रौढ़ थे।

"गुडमार्निंग—आखिर तुम पकड़े ही गये?" (Atlast we have got you)—इनमें से एक ने भीतर आते हुए ताना कस दिया।

"गुडमार्निंग"—उत्तर दे कुर्सी से उठ कर मैंने कहा—"कुर्सी कोठरी में एक ही है। आप लोगों को कहाँ बैठने के लिये कहूँ? मैं यह भी नहीं जानता कि किन सज्जनों से बात करने का सौभाग्य मुझे मिला है।"

उन में से नाटे कद का व्यक्ति ही बात कर रहा था—"आप मिस्टर यशपाल हैं। हमें नहीं पहचानते?" उसने विस्मय प्रकट किया—"हमारी खोपड़ी उड़ा देने के लिये पिस्तौल लिये आपने बीसियों चक्कर हमारे बंगलों के लगाये होंगे।"

साहब की इस अहम्मन्यता पर उस समय भी मुस्कराहट आ गयी। उसे सान्त्वना दी—"हो सकता है ऐसी आशंका के कारण आप लोगों को कई रातें

नींद न आ सकी हो या इस विचार से आप ने गौरव भी अनुभव किया हो पर मेरा यह दुर्भाग्य है कि मैं आप लोगों को पहचानता भी नहीं।"

साहब का मिजाज़ जमीन पर आया। बोले—"मेरा नाम हॉलिन्स है। मैं यू० पी० पुलिस का इंस्पेक्टर जनरल हूँ। ये मिस्टर शाह हैं, यू० पी० की खुफ़िया पुलिस के डिप्टी इंस्पेक्टर जनरल।"—साहब ने अपने साथी की ओर संकेत किया।

हॉलिन्स से मुलाकात का जिक्र मैंने सिंहावलोकन के पहले भाग में भी किया है। उस समय मैंने उसका नाम हॉलैंड्स लिखा था। अभी अक्टूबर १९५४ की इंगलैंड से प्रकाशित पत्रिका 'मैन ओनली' में S. T. Hollins C. I. E. के संस्मरण भारत में फैली अराजकता और अपराधों के विषय में पढ़े हैं। उस समय उसके उच्चारण से मैं हॉलैंड्स ही समझा था। हॉलिन्स के इन संस्मरणों में आज़ाद की शहादत और मेरी गिरफ्तारी का भी वर्णन है। बाइस वर्ष में हॉलिन्स मेरा नाम भूल गया है। स्मृति की कमी से उसने और कुछ अनर्गल बातें भी लिखी हैं। उदाहरणतः उसने लिखा है कि वायसराय की ट्रेन के नीचे बम विस्फोट ३१ दिसम्बर को हुआ था, सावित्री की मृत्यु एक बरस बाद जेल में हो गयी थी। यह बातें ग़लत हैं। कह ही चुका हूँ कि सावित्री मुझ से १९३८ जुलाई में, भुवाली में मिली थी।

हॉलिन्स से मैंने कहा—"आप के दर्शनों के लिये आभारी हूँ। आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?"

हॉलिन्स ने तुरन्त प्रश्न किया—"तुम बहुत सुसंस्कृत आदमी हो। तुमने यह मार्ग क्यों अपनाया?"

"दूसरा तो कोई मार्ग ही नहीं। किसी दूसरे तरीके से आप सुनते ही नहीं"—उत्तर दिया। यह स्पष्ट ही था कि वह सशस्त्र क्रान्ति के सम्बंध में हमारे प्रयत्नों की ओर संकेत कर रहा था। और बात हो भी क्या सकती थी?

हॉलिन्स ने आँखें झपक कर पूछा—"क्या मतलब है आप का?"

"मतलब साफ़ ही है।" मैंने कहा—"सभी जानते हैं कि इस देश के ९९ प्रतिशत लोग भूखे-नंगे, बिना किसी आशा के पशुओं जैसा जीवन बिता रहे हैं। विदेशी गुलामी ने उन्हें परवश और असहाय बना रखा है। इस विदेशी गुलामी से मुक्ति के लिये यत्न करना स्वाभाविक है।"

साहब ने स्वीकार किया कि इस देश के सर्वसाधारण की अवस्था शोचनीय है और हमें स्वाधीनता प्राप्ति के लिये यत्न करने का भी प्राकृतिक अधिकार है परन्तु साथ ही उन्होंने यह भी सीख दी कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये गांधी जी के मार्ग पर चलना ही अधिक उचित है।

हॉलिंस को तो उस समय यही उत्तर दिया कि सरकार गांधी जी का माग यदि उचित और न्यायपूर्ण समझती है तो कांग्रेसी आन्दोलनों पर लाठी चार्ज और गोली की बौछार क्यों की जाती है। कांग्रेस को गैरकानूनी क्यों करार दे दिया गया है?* एक अंग्रेज़ शासक को तो मैं यही उत्तर दे सकता था परन्तु एक क्रान्तिकारी के दृष्टिकोण से, अपने शत्रु द्वारा गांधीवादी आन्दोलन को उचित मार्ग बताना मेरे लिये इस बात का काफ़ी प्रमाण था कि देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये यह आन्दोलन व्यर्थ है। हमारे स्वतन्त्रता के आदर्श और उसकी प्राप्ति के संघर्ष में गांधीवादी सिद्धान्त हमारे विरुद्ध और अंग्रेज़ साम्राज्यशाही के सहायक हैं। यदि ऐसा न होता तो गांधी जी गढ़वाली सिपाहियों के अहिंसात्मक विद्रोह की निन्दा क्यों करते?

संस्मरण की घटनाओं का तार छोड़ कर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि गांधी जी को अंग्रेज़ साम्राज्यशाही का समर्थक कहने से मेरा अभिप्राय क्या है? डी० जी० तेन्दूलकर ने 'टाइम्स आफ़ इण्डिया' अक्टूबर १९५४ के प्रथम सप्ताह में एक पत्र प्रकाशित करवाकर इस बात पर बहुत आपत्ति की थी कि सोवियत बृहद्-विश्वकोष में दिये गये गांधी जी के परिचय में उन्हें ब्रिटिश साम्राज्यशाही का सहायक और भारतीय जनसाधारण के स्वतन्त्रता प्राप्ति के आन्दोलन का विरोधी कहा गया है। कम-से-कम हॉलिंस जैसे जिम्मेवार अफ़सर, जिनका कर्त्तव्य भारतीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन को कुचलना था, बाईस वर्ष पहले गांधीवादी आन्दोलन से लड़ते हुए भी अन्य अंग्रेज़ी सरकार विरोधी संघर्षों के मुकाबले गांधी जी और उनके आन्दोलन को अपना सहायक ही समझते थे।

आज भारत के अंग्रेज़ी शासन से मुक्त हो जाने पर गांधी जी को 'अंग्रेज़ साम्राज्यशाही का सहायक' कहने का अभिप्राय स्पष्ट करने के लिये अंग्रेज़

*(१९३१ में अंग्रेज़ सरकार ने कांग्रेस द्वारा लगानबंदी आंदोलन आरम्भ करने पर कांग्रेस को गैरकानूनी संस्था करार दे दिया था।)

साम्राज्यशाही द्वारा कायम की गयी व्यवस्था और अंग्रेज़ के शासन को पृथक-पृथक करके देखना होगा। गांधी जी अंग्रेज़ों को भारत से चले जाने के लिये कह कर भी उनकी साम्राज्यशाही व्यवस्था, जिसका आधार सामन्तवादी और पूंजीवादी व्यवस्था थी, को आँच नहीं आने देना चाहते थे। बगावत से उस व्यवस्था को तोड़कर देश के शासन की बागडोर सर्वसाधारण जनता द्वारा हाथ में ले लेने या समाजवादी भावना से इस व्यवस्था की रक्षा के लिये, जहाँ तक आवश्यक था, वे अंग्रेज़ी शासन की भी सहायता करते ही रहे। अंग्रेज़ी शासन समाप्त करने के झपाटे में अंग्रेज़ी शासन द्वारा कायम की हुई सामन्तवादी और पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त कर देने की अपेक्षा वे अंग्रेज़ी साम्राज्यशाही को ही बनाये रखने के लिये तैयार थे। गांधी जी ने हरिजन, अप्रैल १९४१ के अंक में यह बात स्वयं स्वीकार की थी—"I hope I am not expected knowingly to undertake a fight that must end in anarchy and red ruin." वे अराजकता और लाल विध्वंस आने देने की अपेक्षा अंग्रेज़ शासन को ही कल्याणकारी समझते थे।

ऐसी बात आज विशेष रूप से कड़वी इसलिये लगती है कि कांग्रेस ने अहिंसात्मक क्रांति द्वारा स्वराज्य पा लेने का मिथ्या गर्व खड़ा कर लिया है। बरमा, लंका, भारत में अंग्रेज़ी शासन का अन्त और पाकिस्तान का जन्म एक ही समय की घटनाएँ और सम परिस्थितियों के परिणाम हैं। यदि दूसरे विश्वयुद्ध के परिणाम में उत्पन्न हो गयी अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति के कारण, १९४७ में भारत का शासन अंग्रेज़ पूंजीपति वर्ग के हाथ से भारतीय पूंजीपति वर्ग के हाथ में आ जाने को अहिंसात्मक क्रान्ति की विजय कहा जाये तो, पाकिस्तान का जन्म भी एक अहिंसात्मक क्रांति की सफलता ही मानना पड़ेगा। पाकिस्तान बनाया जाने के लिये तो कभी कोई अहिंसात्मक आंदोलन या सत्याग्रह किया नहीं गया? जिन्हा साहब ने उसके लिये कभी उपवास नहीं किया, न कष्ट सह कर हृदय परिवर्तन का ही आन्दोलन चलाया था। कांग्रेस के हाथ में भारत का शासन आ जाना गांधीवादी अहिंसात्मक क्रान्ति की विजय का परिणाम नहीं दूसरे विश्वयुद्ध द्वारा उत्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में कम्युनिज़्म के प्रसार का भय था। तत्कालीन ब्रिटिश प्रधान-मन्त्री मि० एटली ने अपने ५ दिसम्बर १९५० के भाषण में यह स्वीकार किया था—"......कम्युनिज़्म अपना प्रभाव अनेक गुप्त तरीकों से संसार भर में फैला रहा है। एशिया और अफ्रीका में इस प्रभाव को रोकने के लिये हमने

भारत, पाकिस्तान और लंका को स्वतन्त्रता देकर उन्हें कम्युनिज़्म के विरुद्ध कामनवेल्थ के मोर्चे में अपना साझीदार और सहायक बना लिया है।"* इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ यदि भारत को अपने वश में रख सकना असम्भव समझने लगे थे तो वह कांग्रेस द्वारा गैर कानूनी नमक बना लेने के कारण नहीं बल्कि आई०एन०ए० के और १९४५ के भारतीय नौ-सेना के विद्रोहों के उदाहरणों से। अस्तु :—

बातचीत के बाद हॉलिन्स ने पूछा—"यहाँ कोई कष्ट तो नहीं?"

"कष्ट देने के लिये ही मुझे यहाँ लाया गया है और मैं उसके लिये तैयार हूँ"—उत्तर दिया।

"क्या मतलब?"

"मैं आप से लड़ता रहा हूँ। अब आप के बस में हूँ, जैसे चाहे रखिये। वर्ना यह क्या आदमी के रहने की जगह है?"—हवालात की कोठरी की ओर संकेत किया।

"यह सब ठीक हो जायगा।.........तुम्हें ऐसे नहीं रखा जा सकता। हम अंग्रेज़ लोग प्रतिहिंसा की भावना नहीं रखते। यदि तुम्हें जर्मनों या रूसियों से वास्ता पड़ता तो जानते। हम लोग मानवता का खयाल रखते हैं। स्वयं ही देख लोगे। जितनी भी सुविधाएँ उचित होंगी, कानूनी या दूसरी देने से हमें संतोष होगा।"

साहब के जाने के कुछ देर बाद फिर हवालात का दरवाज़ा खुला। बाहर लगभग एक दर्जन सशस्त्र सिपाही खड़े थे। थानेदार ने कहा—"आप को दूसरी जगह जाना होगा।"

मुझे पुलिस की लारी में बैठाया गया। इलाहाबाद की सड़कें और स्थान परिचित थे। वहां बीसियों बार स्वतन्त्र घूमा-फिरा था। अब बन्दी बना उन्हीं सड़कों पर से चला जा रहा था। कटरे के पास कचहरी के पीछे गोरा हवालात में पहुँचाया गया। कैनिंग रोड थाने की हवालात की अपेक्षा खूब बड़ा, रौशन कमरा था, साथ ही गुसलखाना भी। दरवाज़े खिड़कियाँ यहाँ भी लोहे की मोटी-मोटी सीखों से जड़े हुए। चारों तरफ छोटा-सा आंगन ऊँची पक्की ईंट की चारदिवारी से घिरा हुआ। आगे-पीछे जंगलों से कुछ दूरी पर खड़े सशस्त्र

*(National Herald Sept, 6. 1950.)

सिपाही दीखते थे। यहाँ इंचार्ज एक अंग्रेज़ था एंगलो इण्डियन था। उसने बन्द करने से पहले तलाशी ली। सावित्री जी के मकान से आते समय केवल दो चीज़ें साथ लेता आया था—एक कम्बल और एक कलम। यह कलम सुमित्रा दीदी की भेंट थी। उस समय बाज़ार में मिल सकने वाला सबसे अच्छा कलम था। कुछ कलम का मोह कुछ भेंट का खयाल, इसे ले ही आया था। अफ़सर ने वह कलम ले लिया और आश्वासन दिया, "जब यहाँ से जाओगे, लौटा दिया जायगा। हवालात में काग़ज-कलम रखने का नियम नहीं है।"

इस हवालात में बंद होते समय एक बड़ी नहाने का साबुन, एक तौलिया, दाँत मांजने का ब्रुश और मंजन भी दिया गया। कमरे में लोहे का पलंग, गद्दा और चादर-कम्बल भी थे। साढ़े-नौ बजे नाश्ता भी आ गया—मक्खन-रोटी, अंडे और चाय। यह जगह भी अपराधियों को बन्द करने के लिये ही थी परन्तु शासक जाति के अपराधियों के लिये। मुझे यहाँ पहुँचाने का कारण अधिक सुरक्षित जगह में रखने का विचार था या मुखबिरों से मिली मेरे जीवन के आधुनिक अभ्यासों की खबर रही हो। हवालात के अफ़सर ने दो-तीन सस्ते ढंग के चलतू उपन्यास भी दे दिये कि पढ़ कर समय काट सकूं। परन्तु इतनी जल्दी पढ़ने क्या बैठ जाता।

ऐसा लगा कि यहाँ काफ़ी समय रहना पड़ेगा, यानि कुछ दिन के लिये ठिकाने पर पहुँच गया हूँ। गिरफ्तारी के समय गोली चलाये तीन-चार घंटे बीत चुके थे। कुछ खा-पी लिया था। जगह भी बुरी नहीं थी, इससे और अच्छी जगह की आशा की भी न जानी चाहिये थी। अब यही सोचने का समय था कि आगे क्या करना होगा? सोचने लायक कोई बात नहीं सूझी। जब तक सामने समस्या का आभास न हो उसके बारे में सोचा ही क्या जा सकता है। यह खयाल था कि लाहौर और दिल्ली के मुकद्दमों में पेश किया जाऊँगा और किसी न किसी मामले में लटका दिया जाऊँगा; कुछ दिनों या महीने दो महीने की बात है। कमरे में टहलने लगा।

उस कमरे में मुझ से पहले दिन बिता गये लोग जगह-जगह दीवार खुरच कर अपने नाम लिख गये थे। अपना नाम कायम कर जाने का भी क्या मोह होता है? बच्चे जिस नयी जगह जाते हैं, अपना नाम लिख देते हैं। कुछ लोगों में यह बचपन बड़ी उम्र तक बना रहता है। साधन होने पर लोग यह बचकाना शौक पूरा करने के लिये किले और बड़े-बड़े स्मारक बना जाते हैं। अंग्रेज़ी में कुछ बहुत उदासी भरी कविताओं की पंक्तियां भी जगह-जगह

लिखी हुई थीं। उनका प्रभाव हो था स्वयं मेरी मानसिक स्थिति का, मैं भी गुनगुनाने लगा :—"कोई दम का मेहमां हूँ, ऐ अहले महफिल, चिराग़े सहर हूँ बुझा चाहता हूँ।" और इसके साथ ही—"गालिब खस्ता के बगैर कौन काम बन्द हैं, रोइये ज़ारोज़ार क्यों, कीजिये हाय-हाय क्यों?" जब भी मन में उद्वेग या उत्साह उमड़ उठता है, गाना या गुनगुनाना आने लगता है।

खुद ही खयाल आया, कौन रो रहा है और कौन हाय-हाय कर कर रहा है। अपने प्रति स्वयं ही करुणा अनुभव करने से क्या फायदा? अपनी माँ, भाई और प्रकाशवती का खयाल आया। उसे भुला देने की चेष्टा की। क्या लाभ था सोचने से? उन्हें दुख तो बहुत होगा परन्तु उन्हें दुख से बचाने का उपाय तो मैं कुछ कर नहीं सकता था। अपने विचार में उन्हें दुख न देने का उपाय मैं यही कर सकता था कि अपने व्यवहार में किसी प्रकार की निर्बलता न आने दूं। वे मेरे लिये गर्व कर सकें।

दोपहर के समय दरवाज़ा खुला और एक स्थूल शरीर, गरम कोट, पतलून पहने व्यक्ति भीतर आये। उनके पीछे एक सिपाही खूब बड़ा थाल, दूसरे थाल और तौलिये से ढंका उठाये था। कुर्सी पर बैठ कर उन्होंने अपना परिचय दिया—"मैं जे० बैनर्जी, डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस हूँ।"

याद आ गया। खुफिया पुलिस के डि० सु० बैनर्जी को बनारस में एक क्रान्तिकारी ने उनकी अंग्रेज़ सेवा का फल देने के लिये गोली मारी थी। यह वही सज्जन थे। बैनर्जी ने बताया मेरी गिरफ्तारी की बात सुन कर उन्हें बहुत दुख हुआ और उन्होंने सोचा कि जाकर देख तो आयें कि मेरी कैसी हालत है। यह भी खयाल आया कि मैं भले घर का लड़का हूँ। मेरे खाने-पीने का जाने क्या प्रबंध किया गया होगा इसलिये कुछ खाना भी साथ लेते आये थे। उन्होंने आग्रह किया कि पहले मैं खा लूं तब बात करेंगे।

मैंने विश्वास प्रकट किया—"यहाँ सब प्रबन्ध सन्तोषजनक जान पड़ रहा है। खाने का भी ठीक ही होगा।" परन्तु वे नहीं माने। थाल खोल कर मेरे सामने रख दिया और बहुत ही आत्मीयता से, जैसे बहुत दिन बाद परदेस से लौटे परिवार के लड़के को भोजन कराया जाता है वैसे ही, एक-एक चीज़ की ओर संकेत कर खाने का आग्रह करने लगे। खाना बहुत अच्छा बंगाली ढंग का था। अच्छे बंगाली खाने की तरह उसमें मिठाई भी थी, याद है खजूर का गुड़ पहली बार उसी दिन खाया था।

खाने के बाद बातचीत शुरू हुई। बैनर्जी का उद्देश्य था कि संकट के समय मेरी जितनी सम्भव हो सहायता की जाये। उन्हों ने याद दिलाया कि मेरी गिरफ्तारी की खबर पाकर मेरे सम्बन्धी दुख से कलपेंगे। खास कर यंग लेडी (प्रकाशवती) पर क्या बीतेगी ? कुछ ऐसा उपाय किया जाना चाहिये कि क़ानूनी झंझट को सम्भाल कर मैं अपना शेष जीवन पारिवारिक सुख शांति से बिता सकूं। मेरे जैसे योग्य नौजवान का जीवन व्यर्थ नष्ट नहीं होना चाहिये। वे यह भी जानते ही थे कि मैं चोर-डाकू नहीं हूँ। अपने विचार में मैंने सब कुछ निस्वार्थ भाव से ऊँचे लक्ष्य के लिये किया है। सब से बड़ी बात यह कि कुछ और नौजवान भी देशभक्ति की भावना से मेरी तरह अपने जीवन को जोखिम में डाल रहे हैं, उन्हें बचाया जाये। उन्होंने पंजाबी होने के नाते मेरे बहादुर और स्पष्टवादी होने का भी विश्वास प्रकट किया—"जब तक लड़े, खूब लड़े। जब लड़ाई खत्म तो साफ़ साफ़ बात !" यह भी बताया कि पिल्चिड साहब भी मेरी निर्भीकता और शिष्टाचार की प्रशंसा कर रहे थे। उन्हें मुझ से व्यक्तिगत बैर नहीं है।

बैनर्जी ने बताया कि वे नित्य गीता का पाठ करते थे और उसी के अनुसार आचरण का प्रयत्न करते थे। यानि अपने कर्म को धर्म समझ कर उसे पूरा करते थे और फल की चिन्ता भगवान के लिये छोड़ देते थे। उन्होंने मुझे भी ऐसा ही करने के लिये कहा। गीता के श्लोकों के उद्धरण भी दिये। बताया कि देश के नौजवानों को अपनी ज़िन्दगियां बरबाद करने से बचाना वे अपना वैयक्तिक और राष्ट्रीय कर्तव्य समझते थे। बनारस में स्वयं उनके ही भान्जे मणीन्द्र ने उन पर गोली चला दी थी। लोग उसे पकड़ कर पीटने लगे तो उन्होंने उसे छुड़ा दिया था—"अबोध लड़के को न मारो। वह कुछ नहीं समझता।" मणीन्द्र की गोली उनके पेडू को छीलती हुई निकल गयी थी। वे बाद में भी गीता के उपदेशानुसार अपना कर्तव्य निभाते रहे। हां, अंग्रेज़ी सरकार ने उन्हें शुभ कर्मों का फल देने के लिये रायबहादुर की पदवी से भूषित कर दिया था।

मैंने बैनर्जी की कृपा के लिये धन्यवाद देकर विश्वास दिलाया कि अपनी समझ से गीता के अनुसार ही आचरण करना चाहता हूँ। जो कर्तव्य समझा करने की कोशिश की, अब उसका फल चाहे जो हो। उससे बचने की कोशिश क्या करनी है। भगवान ने सगे-सम्बन्धियों का मोह छोड़ कर कर्तव्य पालन का उपदेश दिया है। यह सम्बन्ध तो नश्वर शरीर के हैं, उसके साथ समाप्त

भी हो जायेंगे । मेरे किसी को दुःख देने का क्या प्रश्न है; सबका अपना-अपना कर्मफल है ।

बेनर्जी तीन दिन तक लगातार आते रहे। साथ बढ़िया भोजन भी लाते। संध्या को भिजवा देते। दोपहर में गीता को लेकर चर्चा होती रहती और वे बराबर खेद प्रकट करते कि इतनी समझ-बूझ और प्रतिभा का नौजवान ऐसे बरबाद हो जाये। वे ऐसा न होने देने की प्रतिज्ञा किये बैठे थे चाहे मैं नाराज़ ही क्यों न हो जाऊँ। समय बीत जाता था।

चौथे या पाँचवें दिन दोपहर के समय दरवाज़ा खुला और खबर मिली कि दूसरी जगह चलना होगा। ख़याल आया, इन लोगों ने इतने दिन भल-मनसाहत से समझा कर देख लिया। अब यह दूसरा उपाय करेंगे। बहुत से उपाय सुन रखे थे, उल्टा टांग देना, बेहिसाब पिटाई, नाख़ूनों में पिन गाड़ देना और जाने क्या-क्या। [illegible] तैयार हो जाओ !

पुलिस की लारी में प्रायः दर्जन भर सशस्त्र सिपाहियों से घिरा हुआ मलाका जेल (इलाहाबाद जिला जेल) में पहुँचा। अब तक किसी भी समय मुझे हथकड़ी नहीं लगायी गयी थी। जेल के भीतर पहुँचते ही एक लुहार बेड़ियाँ पहनाने के लिये आ गया। मैंने जेलर के सामने आपत्ति की—"मैं राजनैतिक कैदी हूँ; बेड़ियाँ नहीं पहनूँगा।"

"यह सब हमें कुछ मालूम नहीं। जिस दफ़ा में चालान आया है उसमें बेड़ियाँ पहनाई जायेंगी" - उत्तर मिला।

"आप बेड़ियां पहनायेंगे तो मैं विरोध में न भोजन करूँगा और न कोई दूसरा आवश्यक काम।"

"जो तुम जानो।"

बेड़ियां पहना दी गयीं और जेल के पाँच दरवाज़े लांघ कर, दूर एक हाते के भीतर एक बारक की कोठरी में पहुँचा कर, किवाड़ में ताला लगवा दिया गया। बारक के बड़े फाटक पर भी ताला था। कोठरी का दरवाज़ा जंगलेदार नहीं लोहे की चादर का था। दरवाज़े में एक सूराख था जिस पर बाहर की ओर ढक्कन था। पहरेदार वार्डर जब चाहता भीतर झांक सकता था। इस बारक में बीच की जगह खाली थी और दोनों ओर ऐसी ही कोठरियाँ बनी हुई थीं। एक कोठरी में एक पागल बन्द था। वह कभी रोता, कभी गाता रहता। दूसरी कोठरी में तनहाई की सज़ा पाये कैदी बन्द थे। कोठरी में खाट या पलँग नहीं

था। मूँज का बना दो फुट चौड़ा और छः फुट लम्बा एक मोटा टाट, दो काले कम्बल बहुत ही कड़े और एक लोहे का तसला पानी पीने के लिये। एक कोने में तारकोल से पुती जगह में मिट्टी का एक बड़ा प्याला शौच के लिये। दिन में भी कुछ अंधेरा ही रहता था, रात में भी कोई प्रकाश नहीं था। दिल में सोचा—"इब्तदाए इश्क है रोता है क्या, आगे-आगे देखना होता है क्या ?"

सुबह आधा पाव अधभुना-अधघुना चना, दोपहर और संध्या पाँच-छः बड़ी-बड़ी रोटियाँ और लोहे के तसले में पानी जैसी दाल डाल दी जाती थी। मैं कुछ न खा-पीकर भावी की प्रतीक्षा में पड़ा-पड़ा सोया करता था। जाने इतनी नींद कहां से आ गयी थी।

चार-पाँच ही दिन ऐसे बीते होंगे। सुबह जेल का अंग्रेज़ सुपरिन्टेन्डेन्ट (जो इलाहाबाद का सिविल सर्जन भी था) के दर्शन हुए। उसके कोठरी में आने पर भी मैं लेटा ही रहा।

सिविल सर्जन ने पूछा—"तुम अशिष्टता का व्यवहार क्यों कर रहे हो ?"

मैंने उत्तर दिया—"मेरे साथ भी तो अशिष्टता का व्यवहार किया जा रहा है।"

"क्या ? कैसे ?"

"यह शिष्ट लोगों के रहने का ढंग और जगह है ?"—मैंने कोठरी की ओर संकेत करके पूछा।

साहब ने मेरी बात का उत्तर न देकर धमकी दी—"तुम भूख हड़ताल कर रहे हो, यह जेल कानून से अपराध है।"

"मैं भूख हड़ताल नहीं कर रहा हूँ। मेरे साथ ठीक ढंग से व्यवहार नहीं किया जा रहा है और न खाने लायक खाना दिया जा रहा है इसलिये मैं नहीं खा सकता।"

"दूध-चावल खाओगे ?"—उसने पूछा।

"दूध-चावल का सवाल नहीं है। ठीक व्यवहार का प्रश्न है।"

"वह कैसा होता है ?"

"जैसा राजनैतिक कैदियों के साथ होना चाहिये या जैसे कोई सभ्य देश युद्ध बन्दियों के साथ करता है।"

"तुम तो वायोलेंस के अपराध के अभियुक्त हो।" साहब ने गांधीवादी भाषा का प्रयोग किया।

मैंने उत्तर दिया—"जो भी हो उद्देश्य राजनैतिक ही है।"

"यह हम नहीं जानते। तुम ऊँची श्रेणी का बर्ताव चाहते हो तो दरख्वास्त दो। तुम्हारी आर्थिक स्थिति की तहकीकात की जायगी। फिर मजिस्ट्रेट का जैसा फैसला होगा। अभी चाहो तो मैं लिहाज़ में दूध-चावल दे सकता हूँ।"

"धन्यवाद! लिहाज़ नहीं चाहिये, ठीक व्यवहार चाहिये।"

कोठरी का फाटक बन्द हो गया।

अगले या दूसरे दिन दोपहर बाद जेल के दफ्तर में ले जाकर मुझे मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया गया। मैं समझ गया कि मुझे मेजिस्ट्रेट के सामने पेश करने की आवश्यकता इसलिये हुई होगी कि पुलिस मुझे तहकीकात के लिये अभी और हवालात में रखे रहने की इजाज़त चाहती है। सम्भव है बाहर इस बात पर शोर मच रहा हो कि मुझे अदालत में पेश क्यों नहीं किया जा रहा? मैजिस्ट्रेट ने मुझसे पूछा—"कुछ कहना चाहते हो?"

उत्तर दिया—"मेरे साथ मनुष्यों जैसा व्यवहार नहीं किया जा रहा है। जब तक मेरे पांव से बेड़ियाँ नहीं निकाली जायेंगी मैं न भोजन करूंगा न कोई बात करूंगा। व्यवहार राजनैतिक कैदियों जैसा होना चाहिये।"

मैजिस्ट्रेट ने कहा—"ऊँची श्रेणी का व्यवहार चाहते हो तो दरख्वास्त दो।"

मैंने आग्रह किया—"आप से कह रहा हूँ, इसे दरख्वास्त समझ लीजिये।"

इन आठ-नौ दिनों में बाहर या जेल के किसी आदमी से बात करने का अवसर नहीं मिला। यह भी मालूम नहीं था कि मेरी गिरफ्तारी की बाबत लोगों को पता लगा या नहीं और किसी को मेरी चिंता है या नहीं। मेरा निश्चय था कि मैं स्वयं जो कुछ कर सकता हूँ मुझे उस की चिन्ता करनी चाहिये। सफ़ाई मुझे देनी क्या है? कुछ नहीं। यही कहना है कि मैंने जो कुछ किया, वह क्यों किया। जैसे भगतसिंह ने कहा था।

यदि यों श्मशान में रखे जाने को और सात-आठ दिन बेड़ियां पहने भूखा रहने को ही यातना देना कहा जाय तो यह यातना ही थी। परन्तु मुझे यह कुछ बहुत बड़ा कष्ट नहीं जान पड़ा क्योंकि मैं इससे बहुत बड़ी यातनाओं

की प्रतीक्षा में था। कुछ आदमियों या साथियों से बाद में बात करने पर पता लगा है कि मन में यह खयाल कि हमारी बाबत किसी को कुछ पता ही नहीं, हम इस काल कोठरी में मर भी जायें तो किसी को खबर नहीं होगी, सबसे बड़ी यातना बन जाता है। जब अभियुक्त अपनी बात बाहर पहुँचाने की मांग करता है तो पुलिस को उसका एक मर्म-स्थल मालूम हो जाता है। यह दिखा कर कि तुम्हारी बात बाहर नहीं जा सकती, तुम बड़े देशभक्त शहीद बन रहे थे लेकिन किसी को तुम्हारी चिंता नहीं; उसे परेशान किया जा सकता है या परेशान होते व्यक्ति की परेशानी को बढ़ाने के लिये उसकी पिटाई-पिटाई भी की जा सकती है। मैं ऐसा अनुभूति शून्य बनकर बैठ गया था कि कोई परेशानी या शिकायत है ही नहीं।

उस रोज मैजिस्ट्रेट से बात होने के अगले दिन बेड़ियाँ कट गईं। उस काल कोठरी में लोहे का एक पलंग और बिस्तर भी आ गया और बी० क्लास के कांग्रेसी कैदियों के यहाँ से भोजन आने लगा। अगले ही दिन बैनर्जी फिर आ पहुँचे। उन्होंने बहुत विस्मय और खेद प्रकट किया—"तुम्हें यहाँ भेज कर इन लोगों ने बड़ी मूर्खता की है। मुझे मालूम ही नहीं हुआ। यह तुम्हारे लायक जगह नहीं है। साथ कुछ फल लेते आये थे और भोजन का थाल भी। फिर गीता के उपदेश के अनुसार फल की चिन्ता न कर कर्त्तव्य निश्चय करने का उपदेश शुरू हुआ। परिवार और प्रकाशवती का ज़िक्र हुआ और यह सम्भव बताया गया कि मुकद्दमे का यों ही सा उपचार हो जाये और मैं संकट के इस झगड़े से छूट जाऊँ और विलायत चला जाऊँ। यह सब हो सकता था यदि मैं दूसरे नौजवानों का जीवन नष्ट करने वाले आन्दोलन की रोकथाम में सहयोग दे सकता, अर्थात् मुखबिर बन जाता।

अब बैनर्जी से साफ़-साफ़ बात करनी पड़ी। उनका ढँग इतना शिष्ट और मधुर था कि मैं अकारण ही उद्दंडता से बात नहीं कर सकता था। मैंने कहा—"बैनर्जी महाशय, गीता की बात छोड़िये। उसका अर्थ किसी की समझ में नहीं आ सकता। गीता के उपदेश से युद्ध से कतराने वाला अर्जुन राज्य के लोभ में अपने सगे सम्बन्धियों को मारने के लिये तय्यार हो गया था। बहुत से लोग गीता पढ़ कर वैरागी बन जाते हैं। गांधी जी को उस में अहिंसा का उपदेश मिलता है। आप मुझे गीता के आधार पर अपनी जान बचाने के लिये अपने साथियों के साथ विश्वासघात करने का सुझाव दे रहे हैं। अपनी साधारण बुद्धि के अनुसार मेरा निश्चय है कि मैंने जो कुछ किया उचित किया। मुझे मालूम

था कि इसका फल भोगना पड़ेगा। मैं उसके लिये तय्यार हूँ। आपकी सहृदयता के लिये आभारी हूँ। भोजन मुझे जेल से मिलता है आप भोजन न भिजवाया कीजिये।"

बैनर्जी ने उपेक्षा के रूप में हाथ हिलाकर कहा—"इन छोटी-छोटी बातों को छोड़ो। यह तो मेरे संतोष की बात है।"

भोजन के सम्बन्ध में बैनर्जी की कृपा से बचने की इच्छा का एक कारण था। मुझे इस जेल में आये आठ-दस दिन हो गये थे। अब मेरे साथ विशेष व्यवहार हो रहा था इसलिये कैदियों में उत्सुकता हो रही थी कि मैं हूँ कौन? एक दिन तो एक कैदी जमादार एक छोटा-सा पर्चा ही ले आया, जिसमें लगानबन्दी के सत्याग्रही कैदियों ने मेरे सम्बन्ध में जिज्ञासा की थी और सहायता करने की इच्छा भी प्रकट की थी। उस समय मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। शंका की थी, यह कैदी जमादार जेलर की ओर से यह भेद तो नहीं ले रहा कि मैं गैरकानूनी काम करता हूँ या नहीं! दूसरे कैदियों को यह भला कैसे न पता चलता कि बैनर्जी पुलिस के ऊँचे अफसर हैं। उनके यहाँ से मेरे लिये खाना आने के कई अर्थ लगाये जा सकते थे।

बैनर्जी से कुछ कड़ी बात कह देनी पड़ी। कहा—"देखिये मैं जेल में हूँ। खाना आप के यहां से आता है। यदि मुझे कुछ हो गया तो मुझे विष देने का कलंक आप पर आयेगा। ऐसा मैं नहीं चाहता।" बैनर्जी ने कान को हाथ लगाया—"ना भाई, ऐसा सोचते हो तो मैं खाना नहीं भिजवाऊँगा।"

तीसरे-चौथे दिन बैनर्जी ने तंग आकर कहा—"आखिर हम अदालती कार्रवाई कब तक रुकवा सकते हैं। मामला एक बार अदालत में चला गया तो फिर उसे रफ़ा-दफ़ा करने या उसका रूप बदल देने की गुंजाइश नहीं रहेगी। अब सोच लेना चाहिये तुम्हें!"

मैंने उत्तर दिया—"मैं तो स्वयं ही चाहता हूँ कि मामला जल्दी अदालत में आये। यहाँ आपने मुझे अन्धे कुएँ में डाल रखा है। आपकी सद्भावना के लिये मैं कृतज्ञ हूँ परन्तु मेरी स्थिति ऐसी है कि आप मुझ से मिलने न आयें तभी मेरे लिये अच्छा है।" बैनर्जी लम्बी सांस लेकर चले गये पर उन्होंने हार मान ली हो सो बात नहीं। उन्होंने मेरे हृदय परिवर्तन का एक और प्रयत्न किया पर कुछ दिन बाद।

एक-दो दिन बाद मुझे जेल के दफ्तर में बुलाया गया। श्यामकुमारी नेहरू को पहचाना। फरारी की अवस्था में भी उनकी माता उमा नेहरू, पिता मोहनलाल नेहरू और उनसे भी दो बार मिल चुका था। उन्होंने अपने साथ के दो व्यक्तियों का परिचय कराया। एक थे श्यामकुमारी के चाचा बिहारीलाल नेहरू और दूसरे उनके मित्र बैरिस्टर थे। इन लोगों ने मेरी वकालत करना स्वीकार किया था और इसी सम्बन्ध में मुझसे परामर्श करने आये थे। बात जेल के अफसरों के ही सामने हुई परन्तु बात सुन नहीं सकते थे। वे चौकसी रखते थे कि हम लोग कुछ ले-दे न लें। अंग्रेज़ी सरकार की जेल में मैंने स्वयं अपने मामले की सफ़ाई के लिये वकीलों से गुप्त परामर्श करने के अधिकार का उपयोग किया। हरेक अभियुक्त चाहे वह किसी भी अपराध का अभियुक्त रहा हो, चाहे जितना खतरनाक और अविश्वसनीय माना गया हो, इस अधिकार का प्रयोग कर सकता था परन्तु १९४९ में जब मुझे रेलवे हड़ताल की आशंका में व्यर्थ ही जेल में डाल दिया गया था, यह देख कर विस्मय और दुख हुआ कि कांग्रेसी राज में कम्युनिस्ट अभियुक्तों को यह अधिकार देने से इन्कार किया जा रहा था। मेरी गिरफ्तारी का बहुत विरोध होने के कारण मुझे जेल से जल्दी ही छोड़ दिया गया। उस समय लालबहादुर जी शास्त्री उत्तर प्रदेश के पुलिस-मन्त्री थे। मैंने उनका ध्यान इस अन्याय की ओर दिलाया। इस विषय में उनसे मिलने गया तो शास्त्री जी बैठे चरखा कात रहे थे। उन्होंने मेरी शिकायत पर एतराज किया कि कम्युनिस्ट लोग ऐसे अधिकारों का नाजायज़ लाभ उठाते हैं।

शास्त्री जी की यह बात सही मानी जा सकती है परन्तु मैं व्यक्तिगत जानकारी के आधार पर कह सकता हूँ कि कांग्रेस के सभी नेताओं ने, पं० जवाहरलाल नेहरू से लेकर स्वयं शास्त्री जी तक, सभी ने अंग्रेज़ी राज में ऐसे अधिकारों का मनचाहा लाभ उठाया है परन्तु इस अधिकार का छीना जाना वे सहन नहीं कर सकते थे। अंग्रेज़ सरकार भी जानती थी कि राजनैतिक कैदी इस अधिकार का दुरुपयोग करते हैं परन्तु वे एक बात को नियम मान लेने पर उसके पालन का साहस रखते थे। दुर्भाग्य से हमारी कांग्रेस सरकार में ऐसा साहस नहीं है। वे चरखा कात लेने को ही आचार और सत्य-अहिंसा की पराकाष्ठा मान कर संतोष कर सकते हैं।

श्यामकुमारी जी से मालूम हुआ कि बाहर कुछ लोग मुझे अदालती सहायता देने के लिये कमेटी बना कर चन्दा इकट्ठा कर रहे हैं। मैंने उनसे कहा—

लाहौर और देहली षड़यन्त्रों के मुकद्दमों की बात दूसरी थी। वहां बहुत से अभियुक्त थे। यहाँ मैं अकेला हूँ। आप लोग पैरवी कर रहे हैं तो और रुपये की जरूरत क्या है? मैं यह नहीं चाहता कि मेरी माता को आर्थिक सहायता देने के लिये चन्दा जमा किया जाये। मुझे यह मालूम हो चुका था कि धर्मपाल के गिरफ्तार हो जाने से पहले ही उन्होंने लाहौर में महिला महा-विद्यालय के बोर्डिंग हाउस में सुपरिन्टेन्डेन्ट की नौकरी कर ली थी।

श्यामकुमारी जी ने बताया कि सावित्री पर मुझे शरण देने के लिये मुक-द्दमा चल रहा है। यह जानने के लिये कि मेरे साथ विश्वासघात किसने किया होगा, उन्होंने मेरी गिरफ्तारी का ब्यौरेवार वर्णन पूछा। यह भी समाचार मिल गया कि प्रकाशवती तथा दूसरे साथी सुरक्षित थे। यह भी पता लगा कि इन्द्रपाल के पलट जाने के कारण दूसरे लाहौर षड़यंत्र का मुकद्दमा गिर गया और मेरा छोटा भाई धर्मपाल छूट गया था। उन्हों ने बताया कि अभी मुझ पर एक मुकद्दमा शस्त्र रखने के लिये और दो मुकद्दमे हत्या के प्रयत्न के लिये चलाये जायंगे।

अकेला अभियुक्त होने के कारण षड़यन्त्र का मुकद्दमा चल नहीं सकता था। इन धाराओं में से किसी में भी सात वर्ष जेल से अधिक की सज़ा नहीं हो सकती थी। लाहौर और देहली के मामलों में मुझ पर षड़यन्त्र और वायसराय की ट्रेन के नीचे विस्फोट आदि के लिये मुकद्दमा चलाना होगा तो मुझे लाहौर या देहली ले जाया जायगा।

बिहारीलाल जी नेहरू ने बताया—"दफ़ा ३०७ का एक मुकद्दमा कानपुर की घटना के सम्बन्ध में है। उस मुकद्दमे के लिये पहले शिनाख्त परेड होगी अर्थात् एक मैजिस्ट्रेट के सामने कानपुर की घटना से सम्बन्ध रखने वाले सिपाही तुम्हें पहचानने के लिये आयेंगे। यदि वे लोग तुम्हें पहचान न सके तो वह मुकद्दमा चल ही नहीं सकेगा।"

मैं हँस दिया और बोला—"जिन लोगों से काफ़ी बहस और झगड़ा कर, सामने से गोली मारी है, वे मुझे पहचानेंगे कैसे नहीं? खास कर जब वे पहचानने के लिये ही आयेंगे। उनमें से एक सिपाही से देहली के चावड़ी बाज़ार में सामना हो गया था। उस समय भी वह मुझे तुरन्त पहचान गया था। यह बात दूसरी है कि भय से उसके हाथ-पांव फूल गये या उस समय निशस्त्र रहने के कारण वह डर कर भाग गया।" मैंने विश्वास दिलाया—"पहचान न सकने की बात तो असम्भव (impossible) है।

नेहरू जी ने समझाया—"यह मत कहो कि असम्भव (impossible) है, यह कह सकते हो कि न पहचान सकने की सम्भावना बहुत कम है (It is highly improbable)। एक बात और है, तुम पर यह मुकद्दमा राजनैतिक षड्यन्त्र द्वारा हत्या के रूप में नहीं चलाया जा रहा है। तुम पर कोई राजनैतिक अपराध नहीं लगाया गया है इसलिये तुम्हारा स्वयं यह कहना कि हाँ मैंने यह किया है, मैंने वह किया है, अप्रासंगिक होगा। तुम यदि अपने आपको निर्दोष नहीं बताना चाहते तो बयान देने से इनकार कर देना। शेष हम देखेंगे कि क्या हो सकता है। तुम हमारे रास्ते में रुकावटें न डालना।"—वे मेरे लिये इतना कर रहे थे तो उनकी यह सीख माननी ही पड़ी। इस में मुझे कोई असम्मानजनक बात नहीं लगी।

उन दिनों मुझे कपड़े तो श्यामकुमारी ने ला दिये थे परन्तु मैं हजामत नहीं बनवा रहा था। जेल के कैदी नाई से हजामत बनवाना मुझे पसन्द नहीं था और सेफ्टीरेज़र रखने की आज्ञा अभी नहीं मिली थी। अगले दिन मुझे जेल के दफ्तर में बुलाया गया। एक जवान से मैजिस्ट्रेट साहब मौजूद थे। यह थे मि० भगवानसहाय। मि० सहाय १९४७ के बाद उत्तर प्रदेश में चीफ़ सेक्रेटरी रह चुके हैं और आजकल भोपाल राज्य में चीफ़ कमिश्नर हैं। मि० सहाय ने बताया कि मेरी शिनाख्त करने के लिये कुछ लोगों को बीच में खड़ा किया जायगा और कानपुर गोलीकांड से सम्बन्धित सिपाहियों को मुझे पहचानने का अवसर दिया जायगा।

मैंने शिनाख्त परेड में खड़े होने से इनकार कर दिया।

मि० सहाय बहुत तटस्थता से बोले—"सुनिये, अगर आप शिनाख्त परेड में खड़े होने से इनकार करेंगे तो मैं लिख दूंगा कि अभियुक्त ने परेड में खड़े होने से इनकार कर दिया। मुझे कुछ लेना-देना नहीं है। लेकिन न्याय के विचार से बता देना उचित है कि तुम्हारा इनकार करना तुम्हारे विरुद्ध प्रमाण माना जा सकता है। यदि तुम्हें एतराज़ है कि शिनाख़्त परेड ठीक ढंग से नहीं हो रही है तो अपना एतराज़ बताओ। यदि एतराज़ मुनासिब होगा तो उसे दूर करने की कोशिश की जायगी।"

इस युक्ति-युक्त बात का मैंने भी उचित उत्तर दिया। मेरा एतराज़ था कि जिन आदमियों में मुझे खड़ा किया जा रहा है मेरे सिवा वे सब जेल के कैदियों की वर्दी पहने हैं। मेरे चेहरे पर पन्द्रह दिन की हजामत बढ़ी होने

से मैं यों ही अलग सा दिखाई देता हूँ। उचित ढंग से शिनाख्त परेड तब होगी जब मुझे मेरे जैसे आदमियों में खड़ा किया जाये। मुझे हजामत बनाने का भी मौका मिलना चाहिये। मेरी यह हजामत ही बता रही है कि मैं सदा ऐसे नहीं रहता आया हूँ।

"हाँ, यह एतराज़ ठीक है।"—मि० सहाय ने स्वीकार कर लिया।

उपाय यह सोचा गया कि मुझे सी० क्लास के मामूली कैदियों के बजाय बी० क्लास के राजनैतिक कैदियों में खड़ा किया जाये। मुझे कपड़े बदल लेने और हजामत का भी समय दिया जाये।

उस समय इलाहाबाद जेल में आजकल उत्तर प्रदेश के स्वायत्त-शासन मंत्री मोहनलाल गौतम, कानपुर से लोकसभा के सदस्य गोपीनाथसिंह आदि बन्दी थे। इन लोगों से पुराना परिचय था। यह लोग मेरी सहायता के लिये सभी कुछ करने के लिये तैयार थे। वे खद्दर के उजले कुर्ते-पायजामे और गाँधी टोपी पहने थे। एक जोड़ा मेरे लिये भी मँगवा दिया गया। एक नाई आ गया। मुझे याद था कि कानपुर की घटना के दिनों में मैं छोटी-छोटी मूँछें रखता था। गौतम जी जेल में पूरी मूँछें रखे थे। उन से अनुरोध किया कि अपनी मूँछें तरशवा लें। अपनी मूँछें मैंने सफ़ाचट कर दीं। शिनाख्त परेड में खड़ा होने के लिये बी० क्लास के एक और पंजाबी अभियुक्त को बुला लिया गया था। वह भला आदमी मुसलमान था और जाली सिक्का बनाने के मामले में गिरफ्तार था। मेरे पंजाबी और भगतसिंह का साथी, क्रान्तिकारी होने के कारण वह गले लगकर मिला और बोला—"तुम्हें बचाने के लिये जान तक देने के लिये तय्यार हूँ।" उसने बड़े यत्न से मूँछें पाल रखी थीं और उन्हें मरोड़ कर बिच्छू के डंकों की तरह चढ़ाये था। मैंने अनुरोध किया—"यह मूँछें छँटवा कर तितली की तरह छोटी-छोटी करवा लो।" उसने तुरन्त ही इतना काम कर डाला।

मैजिस्ट्रेट ने इशारा कर सकने वाले जेल के लोगों को दूर-दूर हट जाने के लिये कहा और मुझ से पूछा अब तो कोई एतराज़ नहीं है। एतराज़ के लिये गुंजाइश न रही थी पर इससे मन की आशंका तो मिट नहीं गयी। हम लोग शिनाख्त परेड के लिये खड़े हो गये। एक सिपाही को पुकारा गया। उसके सामने आते ही मैंने उसे पहचान लिया परन्तु पहचान लिये जाने की कोई घबराहट प्रकट न कर शांत खड़ा रहा। पहले से हुई बात के अनुसार गौतम जी और पंजाबी भाई ने कुछ घबराहट प्रकट की। सिपाही ने हम सब

लोगों को कई बार देखा। वह स्वयं बौखलाया हुआ जान पड़ रहा था। आखिर उसने गौतम जी का हाथ पकड़ लिया।

दूसरे सिपाही को बुलाया गया। वह भी पथराई सी आंखों से हम सबको कुछ देर देखता रहा और अन्त में उसने पंजाबी भाई का हाथ थाम कर कहा—"यह आदमी था।"

तीसरे सिपाही ने, जो मुझे दिल्ली चावड़ी बाज़ार में मिला था, सब को ध्यान से देखा। उसके शरीर में पुराने भय के कारण कंपकपी अब भी दिखाई पड़ रही थी। सब को खूब अच्छी तरह देख कर उसने कहा—"हजूर, वह आदमी यहां नहीं है।"

इसके बाद बिहारीलाल जी नेहरू मुलाकात करने आये और शिनाख्त परेड का परिणाम सुन कर उन्होंने याद दिलायी—"तुम तो कहते थे, पहचाना न जाना असम्भव है!" अस्तु, कानपुर-घटना के मुकद्दमे से तो छुट्टी मिली।

दूसरे-तीसरे दिन फिर दफ्तर में बुलाया गया और पुलिस की एक गारद के हवाले कर दिया गया। जेल के नियम के अनुसार कैदी को एक जेल से दूसरी जेल में बदली होने की खबर नहीं होने दी जाती। आशंका रहती है कि कैदी कहीं भाग जाने का इन्तज़ाम न कर ले। पर पुराने कैदियों को ऐसी खबरें कई दिन पहले मिल ही जाती हैं। मैं उस समय तक नया था। मेरा अनुमान था कि मुझे देहली या लाहौर ले जाया जा रहा है। श्यामकुमारी प्रायः तीसरे-चौथे मिलने आती रहती थीं। उनसे मालूम हो चुका था कि दिल्ली और लाहौर के मुकद्दमों में सफ़ाई के वकील मुझे मुकद्दमे में पेश करने की माँगें कर रहे थे। वहाँ मुझे पेश करने का मतलब उन मुकद्दमों को नये सिरे से जारी किया जाना होता। सरकार उन मुकद्दमों पर उस समय चौदह-चौदह, पन्द्रह-पन्द्रह लाख रुपये खर्च कर चुकी थी। दिल्ली या लाहौर भेजे जाने पर मैं पुराने साथियों से मिलने का अवसर तो पाता परन्तु मुझ पर कालेपानी या फांसी की सज़ा का अभियोग भी चलता।

पुलिस ने मुझे स्टेशन न पहुँचा कर इलाहाबाद के नैनी सेन्ट्रल जेल में पहुँचा दिया। यहाँ मुझे गोरा बारक (योरुपियन बारक) की एक कोठरी में बन्द किया गया। बारक से बाहर निकलने की आज्ञा नहीं थी। मेरी कोठरी के पीछे हर समय एक जमादार खड़ा यह देखता रहता था कि मैं कोठरी में हूँ या नहीं या मुझ से कोई मिलने तो नहीं आता। वास्तव में तो योरुपियन

बारक के सभी कैदी मेरे लिये पहरेदार थे। क्योंकि वहां अधिकांश गोरे फौजी सिपाही थे, दो-तीन योरुपियन होने का दावा करने वाले एंग्लोइंडियन, एक एंग्लोइंडियन होने का दम भरने वाला देसी ईसाई ये सब लोग मुझे अपना व्यक्तिगत शत्रु समझते थे। यहाँ भोजन कपड़े का दर्जा 'बी' क्लास के राजनैतिक कैदियों से भी कुछ ऊँचा ही था। मक्खन, डबल रोटी, दूध, चाय, अच्छा चावल, दाल, मांस, एक आध फल सभी कुछ मिलता था। मेरे लिये सुपरिन्टेन्डेन्ट मेजर ओबेराय ने भद्रजन समझ कर या स्वास्थ्य के लिये कुछ अधिक दूध और अंडे की व्यवस्था कर दी।

श्यामकुमारी और दूसरे वकील नैनी में भी मिलने आते थे। श्यामकुमारी मेरी बहुत सहायता करती थीं। उनसे मैं अपनी निजी जरूरत की या राजनैतिक संदेश भेजने की बात भी बेतकल्लुफ़ी से कर सकता था। जितनी या जिन पुस्तकों या दूसरी चीज़ों के लिये कहा उन्होंने लाकर दीं। यह भी कहा कि जब जैसी ज़रूरत हो संदेश भेज दूं। संदेश भेजने के सुझाव पर कठिनाई प्रकट की—"मलाका में तो कुछ परिचय हो चला था। यहाँ तो अभी किसी को जानता नहीं। इस बड़ी जेल में तो कड़ाई भी बड़ी है।"

जवाहरलालजी और नेहरू परिवार के लोग नैनी जेल में काफ़ी रह चुके थे। श्यामकुमारी का वहां काफ़ी आना जाना रहा था। सान्त्वना दी—"घबराओ नहीं, जितनी बड़ी जेल उतनी अधिक सहूलियत। कुछ दिन में चाहोगे तो गुप्त चिट्ठी-पत्री भी भेज सकोगे।" उन्हों ने एक विश्वासपात्र वार्डर का नाम बता दिया—"जवाहर भाई और रणजीत भाई जब ज़रूरत होती थी उसी के हाथ हमारे यहां चिट्ठी भेज देते थे। तुम परवाह न करना उसे हम इनाम दे देंगे। जरूरत हो तो दस-पांच रुपये अपने पास रख लो।" जेल कानून से पैसा पास रखना बड़ा भारी जुर्म था। लेकिन सभी कैदी छिपाकर पैसा रखते ही थे। जेल अफ़सर भी यह जानते थे। कैदी पैसा पास न रखते तो अफ़सरों को रिश्वत कैसे देते?

मेरे मुकद्दमे की तारीख मार्च के अंत में पड़ी थी। उन्हीं दिनों माता जी लाहौर से मुझे मिलने आयीं। मेरी गिरफ्तारी या छोटे भाई की गिरफ्तारी पर एकांत में उन्होंने चाहे जितने आंसू बहाये हों परन्तु जेल में मिलने आने पर तो मुस्कराती ही रहीं और यही कहा—"....तुमने जो कुछ किया है, जान बूझकर किया है। बस मेरे दूध को लाज न लगाना।"

इस बीच श्यामकुमारी की मार्फत प्रकाशवती के पत्र भी मिलने लगे थे और मैं इन पत्रों का जवाब भी उन्हीं की मार्फत भेज देता था। यह सब कुछ जेल अफ़सरों की मौजूदगी में ही होता था परन्तु उनकी जानकारी में नहीं। पहला पत्र मैंने एक साबुन को लपेटे रहने वाले कागज़ पर पेंसिल से लिखा था। उसे प्रकाशवती ने धरोहर की तरह सम्भाल कर रखा हुआ है। तेइस वर्ष बाद उस समय स्वयं लिखी बातें कुछ विचित्र सी लगती हैं।

जेल के दफ़्तर के एक कमरे को सेशन अदालत बना कर वहीं मेरा मुकद्दमा किया गया। जज थे तेजनारायण मुल्ला। मुल्ला परिवार बहुत अंग्रेज़ भक्त था। तेजनारायण मुल्ला के पिता जगतनारायण मुल्ला काकोरी के मुकद्दमे में सरकारी वकील थे। ऊपर के प्रसंग में मैंने न्याय के नियमों के सम्बन्ध में अंग्रेज़ी शासन की सराहना की है। मेरा मुकद्दमा अंग्रेज़ी न्याय का दूसरा रूप था। मुझ पर दो धाराओं के अभियोग थे। एक धारा में बिना लाइसेंस पिस्तौल रखने का अभियोग और दूसरा मुकद्दमा धारा ३०७ में कत्ल का प्रयत्न करने के अभियोग का। वास्तव में तो अभियोग एक ही था परन्तु दो मुकद्दमे सज़ा अधिक देने के लिये बनाये गये। मुकद्दमे की तैयारी के लिये मैं जेल लाइब्रेरी से इंडियन पेनल कोड लेकर पढ़ा करता था। मुझ पर मुकद्दमा दो ही धाराओं के अंतर्गत था परन्तु फ़ुर्सत होने के कारण पूरा पेनल कोड पढ़ डाला। कुछ तो कौतूहल से और कुछ यह देखने के लिये कि यह मुकद्दमा हो जाने के बाद मुझ पर अन्य किन-किन धाराओं में मुकद्दमे चलाये जा सकते हैं। इंडियन पेनल कोड में एक धारा ऐसी भी है जिसके अनुसार भारत सम्राट के प्रतिनिधि की हत्या का प्रयत्न करने के अपराध में मृत्यु दण्ड दिया जा सकता है। मन ही मन मैं सोचता था कि ब्रिटिश शासन का न्याय चिन्तन रहित चालू यन्त्र की तरह चल रहा है। सब झंझट छोड़ कर मुझ पर इसी धारा के अन्तर्गत सज़ा देने से इनका प्रयोजन पूरा हो सकता था। अस्तु, बिना लाइसेंस शस्त्र रखने के अभियोग में जज के साथ ज्यूरी नियत की गयी थी और धारा ३०७ में असेसर नियत किये गये।

पहले बिना लाइसेंस पिस्तौल रखने के लिये मुकद्दमा शुरू हुआ। इस मुकद्दमे में ज्यूरी थी। ज्यूरी ने एक मत से फैसला दिया कि मुझ पर बिना लाइसेंस के पिस्तौल रखने का अपराध प्रमाणित नहीं हुआ। जज मुल्ला ने फैसला दिया कि वे ज्यूरी के निर्णय से सहमत नहीं हैं। वे ज्यूरी के विरोध में सज़ा नहीं दे सकते इसलिये मुकद्दमे को हाईकोर्ट में भेज रहे हैं। गोली चला कर कत्ल

के प्रयत्न का मुकद्दमा हुआ असेसरों द्वारा। मेरे विरुद्ध अभियोग केवल पुलिस अधिकारियों, विशेष कर मि० पिल्डिन्च के बयान के आधार पर था। गवाह कोई भी नहीं था। गवाही की वस्तु भी कोई नहीं थी। मैंने कोई भी बयान देने से इनकार कर दिया था। यहां यह कहे बिना नहीं रह सकता कि मि० पिल्डिन्च ने अपने बयान में अक्षरशः सच्चाई का पालन किया। बिहारीलाल जी बोलते तो बहुत धीमे-धीमे थे परन्तु उन्होंने जिरह इस पैंतरे से की कि पिल्डिन्च को कहना पड़ा—"जहां तक मेरा विश्वास है, मुझ पर गोली अदालत में उपस्थित मि० यशपाल ने ही चलायी थी। हां, सफाई के वकील की जिरह से यह सन्देह हो सकता है कि टीन की दीवार के पीछे गोली चलाने वाला व्यक्ति दूसरा रहा हो और वह किसी तरह से भाग गया हो।" सन्देह का अवसर वकील ने पैदा कर ही दिया।

असेसरों ने भी एक मत होकर कहा कि सन्देह के लिये गुंजाइश है, अपराध प्रमाणित नहीं हुआ। जज मुल्ला ने असेसरों से सहमत न होकर सात वर्ष कठोर कारावास का दण्ड दे दिया। साधारण बुद्धि के लिये जब तक यह प्रमाणित न हो जाता कि मेरे पास पिस्तौल था, पिस्तौल से गोली चला कर हत्या के प्रश्न का मौका ही कहां था ? पर अदालती कायदा और क़ानून साधारण बुद्धि से तो नहीं चलते।

जेल के दफ्तर में बनी इस अदालत में एक रोचक घटना भी हो गयी। देहरादून के प्रकरण में अपने जाली डाक्टर बनने की बाबत कह चुका हूँ। उन दिनों एक बंग कुमारी अध्यापिका के पिता से भी परिचय हुआ था। इस अदालत में सर्वसाधारण को आने की आज्ञा नहीं थी परन्तु मुख्य समाचार-पत्रों के प्रतिनिधियों को आज्ञा दे दी गयी थी। इन प्रतिनिधियों को मुझे देखने की उत्सुकता स्वाभाविक ही थी। आँखें चार होते ही मैंने बंग कुमारी अध्यापिका के पिता को पहचान लिया परन्तु कोई संकेत पहचान लेने का नहीं किया। वे मुझे बहुत विस्मय से देख रहे थे। उन्हें अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हो रहा था। कभी चश्मा लगा कर देखते और कभी चश्मा उतार कर। उनके चेहरे पर एक रंग आता था और एक जाता था। आखिर तीसरे दिन अवसर पाकर उन्होंने प्रणाम कर ही दिया और बहुत धीमे स्वर में स्वास्थ्य [illegible] कर जानने की इच्छा प्रकट की—"सब ठीक है" मैंने संक्षिप्त उत्तर दिया। नहीं चाहता था कि पुलिस वाले उन्हें मुझ से आत्मीयता से बात करता देखें और उनके पीछे पड़ जायें।

हाईकोर्ट के फैसले की तारीख लगभग महीने भर की पड़ी थी इसलिये वकीलों का आना-जाना जारी रहा। फैसले के दिन श्यामकुमारी हाईकोर्ट से सीधे जेल आईं और बधाई दी कि हाईकोर्ट ने बिना लाइसेंस शस्त्र रखने की धारा में मुझे अपराधी तो माना है परन्तु हानि कोई नहीं हुई। इस धारा में सात वर्ष जेल की सज़ा दी गयी है और जैसी आशा थी—क्योंकि दोनों कानून एक ही धारा से सम्बन्ध रखते थे—दोनों सज़ाएँ एक साथ चलेंगी। सज़ा वास्तव में सात वर्ष की हुई है। सब कुछ कर गुज़र के केवल सात वर्ष की सज़ा। जान पड़ा यों ही छूट गया हूँ। अध्ययन करने के लिये सात वर्ष का समय सरकार ने दे दिया है।

श्यामकुमारी दूसरे दिन संध्या फिर आईं। उस दिन मुंह लटका हुआ था। बताया कि कल अंग्रेज़ जज ने दोनों सज़ाएँ साथ-साथ चलाने का फैसला तो सुना दिया था परन्तु फैसला टाइप न हो सकने के कारण उस पर हस्ताक्षर नहीं हुए थे। जान पड़ता है रात क्लब में दूसरे अंग्रेज़ अफ़सरों से बातचीत में उसका विचार बदल गया और सुबह फैसले पर दस्तख़त करते समय उसने 'एक साथ' (Concurrent) शब्द काट कर 'क्रमशः' (Consecutive) शब्द कर दिया। सज़ा चौदह वर्ष हो गयी। सज़ा चौदह वर्ष हो जाने पर वह चौदह ही वर्ष नहीं हो जाती बल्कि निश्चित नियमों के अनुसार वह उम्र क़ैद मान ली जाती है अर्थात् चौदह वर्ष पूरे हो जाने पर भी अपराधी के छोड़े जाने के लिये सरकारी स्वीकृति की आवश्यकता होती है। अवसरवश जिस समय श्यामकुमारी नेहरू यह समाचार लेकर आईं, मेरठ केस के अभि-युक्त, इलाहाबाद हाईकोर्ट में पेशी के लिये, नैनी सेन्ट्रल जेल में आये हुए थे। दफ्तर में इन लोगों से भी मुलाकात हो गयी। इन में लाहौर के लाला केदारनाथ सहगल भी थे। उन्होंने चौदह वर्ष की सज़ा सुन कर भी मुझे बधाई दी—"········फाँसी नहीं हुई यह ही क्या कम है!" मैंने भी सात और चौदह को कोई महत्व न देने की ही कोशिश की क्योंकि अभी लाहौर और देहली में असली मुकद्दमे तो पड़े ही हुए थे। आशा थी इलाहाबाद में फैसला हो जाने पर उनका नम्बर आयगा।

दिल्ली या लाहौर जाने की प्रतीक्षा में जो पुस्तक हाथ लग जाती पढ़ कर समय बिताया करता था। एक दिन दफ्तर में बुलावा आया। कैदी के लिये दफ्तर से बुलावा सदा ही खास बात होती है। साधारणतः जब जेल में किये अपराध की सज़ा के लिये सुपरिन्टेन्डेन्ट के सामने पेश होना हो, जेल से तबा-

दला हो या कोई मुलाकात के लिये आये तभी दफ्तर से बुलावा आता है। जाकर पता चला मिलने वाला कोई नहीं आया था। जेलर ने एक जमादार के साथ ऊपर की मंजिल में भेज दिया। देखा तो फिर वही पुराने बैनर्जी।

बैनर्जी इस बार भी मेरे लिये कुछ बढ़िया आम लेकर आये थे। सोचा, अब तो मुकद्दमे में सज़ा भी हो गयी। अब ये मुझसे क्या आशा करते हैं। पर अभी लाहौर और देहली के मुकद्दमे तो बाकी ही थे। बैनर्जी ने बताया कि उन्हें मेरी चिन्ता के कारण चैन नहीं आ सका। इलाहाबाद का मुकद्दमा तो हो गया पर देहली और लाहौर के तो शेष हैं। अब भी यत्न करने पर बहुत कुछ किया जा सकता है। चौदह वर्ष जेल में काटना मामूली बात नहीं है। यंग-लेडी के भविष्य की भी बात सोचनी चाहिये। उन्होंने मुझे लाल रंग के काग़ज पर हिन्दी में छपा एक पर्चा दिखाया। बहुत छोटा-सा पर्चा था जिसमें विदेशी सरकार के विरुद्ध बग़ावत आरम्भ कर देने की पुकार थी और नीचे छपा हुआ था, हस्ताक्षर प्रकाशवती कमांडर-इन-चीफ़।

प्रकाशवती के नाम से बग़ावत की पुकार के लिये छपा पर्चा लाकर मुझे दिखाने में बैनर्जी का अभिप्राय मुझे यह बताना था कि प्रकाशवती अपने आप को कितने भयंकर संकट में डाल रही हैं। शायद मैं यह देखकर उन्हें बचाने के लिये व्याकुल हो उठूँगा। मैंने किसी भी प्रकार की उत्तेजना या चिन्ता न दिखाकर उत्तर दिया—"मैं अढ़ाई तीन महीने से जेल में हूँ। इस पर्चे के बारे में आप मेरी क्या जिम्मेवारी या श्रेय समझ सकते हैं। मैं इस बारे में कोई सूचना या राय भी नहीं दे सकता हूँ न इसके बारे में सोचना चाहता हूँ।" मन ही मन मुझे यह संतोष हुआ कि हमारे उद्देश्यों के लिये प्रयत्न अब तक जारी है। यह भी शंका हुई कि बैनर्जी मुझे आतंकित करने के लिये जाली पर्चा ही छपवा कर न ले आये हों।

बाद में प्रकाशवती से मैंने पुरानी बातों के सिलसिले में इस पर्चे की बाबत पूछा तो उन्हों ने बताया कि मेरी गिरफ्तारी के बाद राजेन्द्रसिंह आदि साथियों ने कमाण्डर-इन-चीफ के स्थान पर, उनका नाम उपयोग करने की अनुमति माँगी थी और उन्होंने स्वीकार कर लिया था।

बैनर्जी से निवेदन किया :—"आप जानते हैं मैं जेल में हूँ। बाहर क्या हो रहा है, मुझे नहीं मालूम। चौदह वर्ष की जेल हुई है, उसे भुगतने के लिये तैयार हूँ। लाहौर और देहली के मुकद्दमों में जो होना है उसके लिये भी

तैयार हूँ। मैं आपकी कोई बात नहीं मान सकता और न सहायता चाहता हूँ। आपकी भावना के लिये धन्यवाद है।"

बैनर्जी ने और भी लम्बी बात की—"नौकरी का समय पूरा कर मेरे रिटायर होने का समय आ गया है। चाहता हूँ इससे पहले तुम्हारा कुछ भला कर जाऊँ। तुम्हें क्या मुझ पर भरोसा नहीं है? तुम्हें यदि मुझ पर भरोसा नहीं है कि मैं अपनी बात पूरी करूँगा या सन्देह है कि बात से फिर जाऊँगा, या तुम किसी बड़े अफसर से बात करके आश्वासन चाहते हो तो मैं इसका भी प्रबन्ध कर सकता हूँ। मि० पिल्डिच पर तो तुम्हें विश्वास है। देखा ही है, कितने सच्चे आदमी हैं। उनसे बात करोगे?"

कुछ मज़ाक-सा सूझा। उत्तर दिया—"यदि वे चाहें तो मैं बात कर लूँगा।"

बैनर्जी अपने सिर पर हाथ फेर कर बोले—"मेरे सफेद बालों का खयाल रखना। यह न हो कि उनके आने पर तुम उल्टी-पुल्टी बात करने लगो। वे इस समय नैनीताल में हैं। उन्हें वहाँ से बुलाना होगा।"

"आप स्वयं सोच लीजिये"—मैंने जिम्मेवारी टाली—"मैं कोई वायदा नहीं कर रहा हूँ। वे आयेंगे तो मैं बात करने से इनकार नहीं करूँगा लेकिन आप भविष्य में कष्ट न करें। अब मुझे सज़ा हो चुकी है। बाहर से आयी खाने की वस्तु लेना जेल कानून के विरुद्ध है इसलिये मैं आपके लाये आम लेने भी मैं असमर्थ हूँ।"

तीसरे ही दिन फिर दफ्तर से सुबह-सुबह बुलावा आया। सीधे सुपरिन्टेन्डेन्ट के कमरे में पहुँचा दिया गया। देखा मि० पिल्डिच और मार्श दो पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट बैठे थे। पिल्डिच ने मुस्कराकर हाथ मिला कर स्वागत किया और बोले—"मैं नैनीताल में था। मुझे परसों मि० बैनर्जी का फोन मिला कि आप मुझ से बात करना चाहते हैं। मैं सीधा चला आ रहा हूँ।"

"मेरे कारण आपको कष्ट हुआ, मुझे अफ़सोस है"—मैंने उत्तर दिया।

"कोई कष्ट नहीं है मैं। तो बहुत प्रसन्न हूँ कि आप मुझसे बात करना चाहते हैं। हमारी पहली मुलाकात अजीब परिस्थितियों में हुई थी परन्तु तब भी मिल कर प्रसन्नता हुई थी। हाँ तो क्या बात है? अगर अकेले में बात करना चाहो तो मार्श हट जायें।"

मैंने कहा—"नहीं, कैदी का अकेले किसी से बात करना जेल कानून के विरुद्ध है बल्कि हमारी बातचीत के समय नियमानुसार किसी जेल अफसर का रहना भी आवश्यक है।"

पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट के आने का समाचार सुन कर मेजर ओबेराय अपने बंगले से दौड़ते हुए आये होंगे। हम लोगों को एक साथ देख कर ठिठके—"आप लोग बात कीजिये"—कह वे लौट रहे थे कि मैं बोल उठा—"जेल के नियमों के अनुसार कैदी को जेल अफ़सरों की मौजूदगी में ही मिलना चाहिये किसी से।"

"कोई बात नहीं, सब ठीक है"—कह कर ओबेराय चले जा रहे थे।

मैंने आग्रह किया—"पर मैं जेल का नियम तोड़ना नहीं चाहता।"

पिल्डिञ्च और ओबेराय एक दूसरे की ओर देखने लगे। पिल्डिञ्च ने अनुमान प्रकट किया—"शायद मि० यशपाल चाहते हैं कि हम लोगों में जो बातचीत या समझौता हो उसका कोई भरोसे लायक गवाह रहे। मुझे इस बात में कोई एतराज़ नहीं है। मेजर ओबेराय, आप भी बैठिये। यह निश्चित है कि हम तीनों में जो बात होगी गुप्त रहेगी।"

ओबेराय भी कुछ अनिच्छा से बैठ गये। पिल्डिञ्च बोले कि आपको क्या कहना है?

मैंने कहा—"आपको इतनी दूर से आने का कष्ट हुआ उसके लिये खेद है। मुझे यही कहना है कि मि० बैनर्जी मुझसे मिलने न आया करें। सी० आई०डी० के अफ़सर मुझ से मिलने आते रहेंगे तो लोगों को मेरे सम्बन्ध में अच्छी धारणा नहीं होगी।"

"बस?"—पिल्डिञ्च ने विस्मय से पूछा।

"जी, अपनी ओर से तो मुझे यही निवेदन करना है। शेष आप जो पूछें उसका उत्तर दूँगा। आप बताइये मैं आप के लिये क्या कर सकता हूँ?"

पिल्डिञ्च सोच कर बोले—"मैं तो यह अनुरोध करूँगा कि आप अपने बीते जीवन की घटनाओं की एक सच्ची और स्पष्ट कहानी लिख डालें। इसके लिये आप जो कहेंगे हम आपका अनुरोध पूरा करेंगे।"

"अपने जीवन की कहानी महापुरुष लिखा करते हैं"—मैंने उत्तर दिया—"मैं इस योग्य नहीं हूँ। इससे किसी को लाभ भी नहीं होगा।"

"नहीं, यह बात तो नहीं है"—पिल्डिच ने आग्रह किया—"आपने इस आंदोलन में महत्वपूर्ण भाग लिया है। आपके जीवन का और आप के संगठन का इतिहास भविष्य में बहुत से लोगों की जानें बरबाद होने से बचाने में सहायक हो सकता है।"

प्रसंग का तार तोड़ कर एक बात कह दूं। संस्मरण लिखने के लिये पिल्डिच के अनुरोध का मुझ पर यह प्रभाव पड़ा कि १६३८ में जेल से मुक्त हो जाने पर भी मैंने संस्मरण लिखने की जल्दी नहीं की। बहुत से साथियों ने 'आपबीतियां' और 'क्रान्तिकारी प्रयत्नों के इतिहास' लिखे पर मैं जानता था कि सहायकों को संकट में डाले बिना सब सच्ची बातें लिखी ही नहीं जा सकती थीं। सच्ची बातें लिख देने से अपने पक्ष की अपेक्षा अंग्रेज़ सरकार का ही लाभ होने की सम्भावना समझता रहा। १६४७ के बाद ही मैंने संस्मरण लिखना निरापद समझा।

मैंने पिल्डिच को उत्तर दिया—"इसका अर्थ यह कि मैंने जिन लोगों के साथ मिल कर काम किया है उनकी जानें आपके हाथ में दे दूं।"

पिल्डिच ने आश्वासन दिया—मैं इस बात का विश्वास दिलाता हूँ कि जिन लोगों ने हत्या या डकैती में भाग नहीं लिया उनके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की जायगी। उन्हें केवल ऐसा करने से रोका जायगा। जो लोग ऐसी घटनाओं में भाग ले चुके हैं उनके साथ कानूनन जितनी रियायत उचित होगी, करने की कोशिश की जायगी। उद्देश्य प्रतिहिंसा नहीं है बल्कि इस प्रवृत्ति को समाप्त करना है।"

पिल्डिच बहुत स्पष्ट बात कह रहा था इसलिये मैंने भी स्पष्ट बात करना ही उचित समझा। पूछा—"आप मुझे अपनी आपबीती और अपने साथियों का पूरा सच्चा हाल आप के लिये लिख डालने की सलाह दे रहे हैं। लेकिन यदि कोई अंग्रेज़ भद्र पुरुष उदाहरणतः आप ही मेरी स्थिति में होते तो आप यह सब लिख कर दे देते ?"

पिल्डिच के चेहरे पर सुर्खी आ गयी—"हरगिज़ नहीं, किसी भी हालत में नहीं।"—उत्तर दिया।

"तो मुझे भी ऐसा ही करने दीजिये।"

पिल्डिच चुप रह गया और क्षण भर बाद बोला—"अब मैं आपका और भी आदर करता हूँ। अस्तु, इस बात को जाने दो। मोल-तोल की बात नहीं

है। मैं कुछ पूछना नहीं चाहता। एक मित्र के तौर पर मैं आपकी क्या सहा-यता कर सकता हूँ ?"

"धन्यवाद ! क्या सहायता हो सकती है। सब ठीक है।" --उत्तर दिया

"नहीं, चौदह वर्ष काटना मामूली बात नहीं। जेल में ऊँची श्रेणी का प्रबन्ध हो सकता है। क्यों मेजर ऑबेराय ?"

मैंने धन्यवाद देकर कहा—"मैं बी०श्रेणी में हूँ। हिंसा के लिये अभियुक्त लोगों को 'ए' श्रेणी तो कानूनन मिल नहीं सकती।"

"नहीं, ऐसी क्या बात है। सरकारी हुक्म से सब कुछ हो सकता है।"

"धन्यवाद ! जाने दीजिये, मैं संतुष्ट हूँ। लिहाज़ के लिये कहते अच्छा नहीं लगता।"

"बहुत अच्छी बात। लेकिन मित्र के तौर पर सलाह दे रहा हूँ कि जेल में अकेले समय काटना बहुत दूभर हो जाता है। मैं पिछले युद्ध में युद्ध-बन्दी रह चुका हूँ। मुझे अनुभव है। ऐसी अवस्था में विदेशी भाषा सीखने के प्रयत्न में समय बहुत सुविधा से बीत जाता है। 'ह्यू गो' के प्रकाशन में सभी भाषाओं की स्वयं शिक्षक पुस्तकें मिलती हैं। तुम भी यह काम करना।"

"एक सुविधा अवश्य चाहता हूँ।"—मैंने कहा

"क्या ?"

"मुझे कलम कागज़ रखने दिया जाये। कागज़ गिनकर दे दिये जायें। मैं कुछ कहानियाँ या निबन्ध लिखना चाहता हूँ। यह चीज़ें बाहर भेजूँ तो पुलिस उन्हें पढ़ कर देख ले। यदि उन्हें निरापद समझे तो वह चीज़ें मेरे मित्रों या सम्बन्धियों को दे दी जायें।"

"मि० ऑबेराय, यह तो नाजायज़ माँग नहीं है।" पिल्डिच ने कहा और ऑबेराय ने भी हामी भर ली। बहुत सौजन्यता से हाथ मिला कर हम लोगों ने विदा ली।

जेल की लम्बी मियाद में मैंने फ्रेंच और इटालियन भाषा का अच्छा अभ्यास कर लिया था। इस सुझाव के लिये मैं मि० पिल्डिच का आभारी रहा हूँ।

मई का आरम्भ होगा। दफ़्तर से बुलावा आया। सन्देश लाने वाले ने सामान बांध कर चलने के लिये कहा। इस का अर्थ था इस जेल से तबादला।

मैं दिल्ली या लाहौर भेजे जाने की प्रतीक्षा में था ही। जेल से तबादला बहुत असुविधाजनक होता है। सज़ा तीन वर्ष से अधिक की होने पर नियमानुसार बेड़ियां भी जरूर पहनायी जाती हैं। एक जगह आदमी रस-बस जाता है, कुछ परिचय हो जाता है। नयी जगह जाने पर अफ़सर अपना रोब कायम करने के लिये सख्ती भी जरूर दिखाते हैं। कहावत है कि बिल्ली को पहली बार देखते ही मारना चाहिये ताकि वह आने से डरे। जेल अधिकारी इस कहावत पर बहुत विश्वास करते हैं परन्तु दूसरी ओर लगातार एक कोठरी या बारक में रहने के बाद बाहर निकल कर जेल की वर्दी पहने बिना स्त्री-पुरुषों, बच्चों और पशुओं को देखने का अवसर। बाज़ार, रेलवे स्टेशन, मैदानों और जंगलों की झलक भी आकर्षित करती है। जेल की भाषा में इसे 'दुनिया देखना' कहा जाता है। कैदी इसके लिये भी लालायित रहते हैं। शायद काकतालीय न्याय से कोई परिचित स्थान या चेहरा दीख जाये। हथकड़ी-बेड़ी में जकड़े और सशस्त्र पुलिस की गारद से घिरे कैदी को सर्वसाधारण लोग चोर, डाकू, हत्यारा या महा-भयंकर आदमी समझ कर जिस दृष्टि से देखते हैं, वह भी अद्भुत अनुभव होता है। कोई घृणा से मुंह फेर लेते हैं और कोई बेमतलब घूंसा थप्पड़ दिखा कर क्रोध और घृणा प्रकट कर देते हैं। इलाहाबाद स्टेशन पर एक काली मेम साहब ने ऐसा ही व्यवहार मेरे साथ किया। मैं मुस्करा कर रह गया। दफ्तर में ही मालूम हो गया था कि मैं दिल्ली जा रहा हूँ।

देहली जेल में पहुँचते ही जिस अफ़सर से पहली भेंट हुई वे मुझे देखते ही सकपका गये। यह थे एक मि० चावला। बात यह थी कि देहली में रहते समय प्रभुदत्त के साथ एक मि० चावला भी हवाई जहाज़ चलाने का काम सीखते थे। उन चावला के एक सम्बन्धी जेल में अफ़सर थे। प्रभुदत्त के साथ इनके यहाँ मैं दो-तीन बार आया गया था। प्रयोजन था कि इनसे बातों-बातों में देहली जेल में बन्द अपने साथियों का कुछ समाचार मिलता रहेगा। इन साहब को क्या मालूम था कि इनके यहाँ आने वाला व्यक्ति कौन था? मैंने पहचान कर भी दूसरों के सामने कोई परिचय प्रकट नहीं किया। इसे उन्होंने मेरी भलमनसाहत ही समझा। एक काल कोठरी में बन्द कर दिया गया। लेटने के लिये चटाई, कम्बल और वही जेल की दाल-रोटी। विरोध किया—"मैं बी० क्लास का राजनैतिक कैदी हूँ।" पहला उत्तर यही मिला—"हमें कोई इत्तला नहीं है।" चार दिन उपवास कर लेने के बाद उन्हें इत्तला हो गयी और व्यवहार ठीक हो गया। दो-तीन दिन बाद चौथे पहर मुझे

अदालत में पहुँचाया गया। दिल्ली केस के लिये खास अदालत पुराने सेक्रेटेरियेट में कायम की गयी थी। मुझे अलग एक कमरे में बैठा दिया गया। दूसरे कमरे से अदालती कार्रवाई की आवाज़ें आ रही थीं। प्रतीक्षा में था कि अब अपने साथियों को देख पाऊँगा। खिड़की से दिखाई दे रहा था कि दिन ढल कर छायाएँ लम्बी हो रही थीं—क्या अदालत रात सात-आठ बजे तक बैठेगी?

मुझे अदालत के सामने हाज़िर किया गया गया तो अपना कोई साथी मौजूद नहीं था। जज थे, सरकारी वकील थे और मेरी सफ़ाई के लिये दिल्ली के एडवोकेट मि० बैनर्जी। सरकारी वकील ने कहा—"अभियुक्त यशपाल अदालत में हाज़िर है लेकिन क्योंकि अदालत में पेश मामला बहुत दूर तक आगे बढ़ चुका है; मुकद्दमा नये सिरे से शुरू करने में व्यर्थ की असुविधा और व्यय होगा। यशपाल को एक दूसरे अभियोग में चौदह वर्ष कठोर कारावास की सज़ा दी जा चुकी है इसलिये सरकार दिल्ली केस के अन्तर्गत अभियोग उस पर से खारिज़ कर देना चाहती है।"

मेरे वकील मि० बैनर्जी ने इस पर कोई आपत्ति नहीं की। मुकद्दमा समाप्त हो गया। अगले दिन मुझे इलाहाबाद लौटा दिया गया। दिल्ली में गाड़ी की प्रतीक्षा के लिये मुझे स्टेशन की हवालात में बैठा दिया गया। हवालात में देखा दिल्ली परिवार के 'काका' श्रीकृष्ण को। हवालात में बन्द वह एक अनार के टुकड़े से दाने निकाल-निकाल कर खा रहा था।। देख कर भी मैंने परिचय और विस्मय प्रकट नहीं किया। लेकिन वह कुछ द्रवित-सा हो गया। उसने हवालात के मुन्शी से एक मिनिट के लिये बाहर आने की इजाज़त मांगी। मुन्शी मान भी गया। कुछ क्षण मुझे देखा और फिर भीतर बन्द हो गया। फ़रारी के दिनों में उनके यहाँ कई बार ठहरा था। काका का गला बहुत अच्छा था। उसे याद आ गया कि मैं बहादुरशाह की गज़ल बहुत पसन्द करता था। कोठरी में बन्द वह उसी गज़ल को बहुत दरद भरे स्वर में गाने लगा—"लगता नहीं है दिल मेरा उजड़े दियार में....." लाहौर का मुकद्दमा तो मुझे लाहौर अदालत में पेश किये बिना ही खारिज कर दिया गया।

नैनी जेल लौट कर फिर गोरा बारक की वही कोठरी। जेल का यह अजीब कानून है कि अभियुक्त के साथ सख्ती बर्ती जाती है और उसके अपराधी प्रमाणित हो जाने और सज़ा पा जाने पर उसे जेल की नियमित सीमाओं में अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता मिल जाती है। यही मेरे साथ भी हुआ। मेरे जेल टिकट पर

लिखा हुआ था "Specially dangerous but not amounting to personal assault" इसका अभिप्राय हुआ कि 'मारपीट की आशंका तो नहीं है परन्तु इसकी गतिविधि से सावधान रहना चाहिये।' इसलिये मेरे प्रति कुछ विशेष चौकसी नियम में शामिल कर दी जाती थी। सभी क्रांतिकारियों के टिकटों पर 'ख़तरनाक' लिखा ही रहता था। जेल में मैं चौदह वर्ष नहीं कांग्रेसी मंत्री मंडल बन जाने के कारण २ मार्च १९३८ तक ही रहा। जेल जीवन की कहानी में कोई विशेष वैचित्र्य न जान पड़ेगा क्योंकि कांग्रेस के आन्दोलन में लाख से अधिक व्यक्ति जेल काट आये हैं पर कुछ अनुभव दूसरों से भिन्न भी हुए। जेल जीवन की अन्य बातों से भी मानव प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में जानकारी बढ़ सकती है।

गोरा बारक में मुझे काफ़ी दिन रहना पड़ा। योरुपियन कैदियों को प्रायः बी क्लास की विशेष सुविधाएँ दी जाती थीं। कुछ सुविधाएँ उस से भी अधिक थीं और कुछ कमियां भी थीं। गोरे लोग या इस बारक में रखे जाने वाले लोग कुछ विचित्र जीव थे। यों तो कानूनन जेल में पैसा रखने की सख्त मनाही होने पर भी, किसी भी सेन्ट्रल जेल में हजार-दो-हजार रुपये मौजूद रहते ही हैं। सेन्ट्रल जेल की आबादी भो दो अढ़ाई हज़ार होती है। जेल में अपने ढंग का व्यापार भी खूब चलता है।

उन दिनों जेल में बीड़ी-तम्बाकू की सख्त मुमानियत थी। असलीयत यह थी कि अफ़सरों की दृष्टि बचा कर कैदी इन चीज़ों का मनचाहा व्यवहार करते थे। छोटे-मोटे अफसरों की भी परवाह नहीं की जाती थी। सी क्लास के या हिन्दुस्तानी कैदी तो जमादारों की मार्फ़त अपने घर के लोगों से पैसा मंगवा लेते थे। इस तरह पैसा मंगवाने का कमीशन निश्चित और बंधा हुआ था, रुपये में चार आना। इस मामले में बेईमानी नहीं होती थी। कानून से लड़ने वाले लोग प्रायः आपसी व्यवहार में नैतिकता का पालन दृढ़ता से करते हैं। गोरे तो कहीं से पैसा मंगा नहीं सकते थे। वे अपनी डबल रोटी, मक्खन की टिकिया, शकर या मांस का राशन बेच कर बीड़ी खरीदते थे। दर बंधा हुआ था। एक पूरी डबल रोटी, छटांक के लगभग मक्खन, शकर या साढ़े-तीन छटांक मांस, इन में किसी भी चीज़ का मोल एक बंडल बीड़ी था। जेल का अनुभव न रखने वाले लोगों को इस भाव या दर से आश्चर्य होगा परन्तु आश्चर्य की बात कुछ न थी। डबल रोटी, मक्खन, मांस आदि सरकारी तौर पर दिये जाते थे और बीड़ी का बंडल संकट और ख़तरा झेलकर लाया

जाता था। उसकी आयात कम और मांग अधिक थी। सोना या जवाहरात जीवन के लिये आवश्यक नहीं हैं परन्तु हमारे समाज में जीवन के लिये अनिवार्य तथा आवश्यक वस्तुओं से उनका मोल कहीं अधिक है क्योंकि वह कम मात्रा में और कठिनाई से पाये जाते हैं। जेल के बाजार में क्रय-विक्रय का माध्यम या सिक्का बीड़ी का बंडल ही माना जाता था। उसी से दूसरी चीजों की कीमत निश्चित होती थी। उन दिनों बाज़ार में बीड़ी के बंडल की कीमत दो पैसा थी। गोरे अपने राशन में से कोई न कोई चीज़ बेच कर बीड़ी का बंडल तो लेते थे। साधारणतः एक बंडल तो पीते ही थे कोई अधिक भी।

जिन लोगों की आदतें बीड़ी, तम्बाकू से ऊँचे नशे यानि अफीम, गांजे, चरस की थीं उन्हें कुछ तकलीफ़ होती थी। इन चीज़ों के दाम अधिक थे। गोरों को ऐसा शौक पूरा करने के लिये अपनी तीन-चार चीज़ें बेच देनी पड़ती थीं यानि डबल रोटी, मक्खन, शकर सब कुछ। कुछ ऐसे भी थे जो अपना सभी कुछ बेच देते थे और बिना दूध, शकर की काली चाय पीकर और जेल की साधारण दाल रोटी खाकर निर्वाह कर लेते थे। उन दिनों मैं आत्म-सम्मान के विचार से बीड़ी या तम्बाकू का व्यवहार नहीं करता था। यही ख्याल था कि इतनी सी बात के लिये जेल के अफ़सरों के सामने क्यों आंखें नीची करनी पड़ें। कांग्रेस मंत्री मंडल बन जाने पर जब हम लोगों को अपने खर्च पर तम्बाकू पी सकने की इजाज़त मिल गयी तो बात दूसरी थी।

गोरे प्रायः छोटी-मोटी चोरियों के अपराध में आते थे। सज़ा समाप्त होने पर उन्हें इंगलैंड भेज दिया जाता था। कुछ ऐसे ऐंग्लोइंडियन थे जो कई बार जेल काट चुके थे। ग्रांट भी ऐसा ही आदमी था। उसे चरस पीने की आदत थी। साधारणतः गोरों का ख्याल था कि मैं बहुत रुपये पैसे वाला आदमी हूँ इसीलिये मुझे बी क्लास की सुविधा दी गयी है और सुपरिन्टेंडेंट मेरा कुछ लिहाज़ करता है। यह भी उन्हें मालूम था कि मैं अंग्रेज़ सरकार का दुश्मन हूँ। एक दिन ग्रांट ने आकर बात की। जेल में पैसे के अभाव में चरस न मिलने के कष्ट का जिक्र [illegible] "यदि तुम मेरे लिये जेल में अढ़ाई वर्ष तक चरस [illegible] का प्रबंध कर दो तो मैं ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ें काट दूं, केवल पांच सौ रुपये का खर्च है।"

ग्रांट की बात से विस्मित होकर पूछा—"ऐसा कौन सा उपाय है कि अकेला आदमी किसी साम्राज्य की जड़ें काट डाले?"

उत्तर मिला—"बहुत मामूली बात है। बस पैसा चाहिये। वह भी केवल पांच सौ रुपया। मैंने यहां जेल में आकर कई गोरों को चरस पीना सिखा दिया है। चरस पीने वाला आदमी किसी काम का नहीं रह जाता। तुम मेरी ही अवस्था देख लो!"—ग्रांट वास्तव में ही हड्डियों का ढांचा मात्र रह गया था—"मेरे पास पैसा हो तो पूरी ब्रिटिश फौज के गोरों को एकाध गुपत फूँक दे-देकर यह रोग फैला दूं। जहां दो बार चरस का दम चढ़ाया आदत पड़ जायेगी। सिपाहियों को चरस की आदत पड़ी तो वे लोग किसी काम के न रहेंगे। जब सेना ही नहीं रहेगी तो साम्राज्य खाक रहेगा!"

इस बारक में हमारे देश पर शासन करने वाली जाति के लोगों की सिधाई या मूर्खता के भी विचित्र अनुभव होते थे। बारक में हर मंगलवार की सुबह एक मेजर के पद का पादरी छावनी से गोरों को धर्मोपदेश देने आता था। ब्रिटिश साम्राज्य को अपनी सेना का धर्म विश्वास बनाये रखने की बहुत चिंता थी। पादरी गोरों के मनोरंजन के लिये लन्दन से आने वाले सप्ताह भर पुराने पत्र या कुछ सचित्र पत्रिकाएँ भी ले आते थे। सब लोग अपना-अपना स्टूल लेकर कोठरियों के बीच की जगह में बैठ जाते। पादरी साहब बाइबिल में से कुछ भजन गवाते और निष्कलंक कुमारी के गर्भ से उत्पन्न भगवान के बेटे में अटूट विश्वास रखने का उपदेश दे जाते। ऐसे उपदेश का प्रभाव दो-तीन घंटे तक रहता था। पादरी साहब को मेरी आत्मा के प्रति भी करुणा अनुभव हुई। उन्होंने मुझे भी बाइबिल पढ़ने और धर्मोपदेश में साथ बैठने का सुझाव दिया। मैं भी बैठने लगा।

एक मंगलवार दूसरे लोग तो नयी आई पत्रिकाओं के चित्र देखने में व्यस्त थे। डन मेरे पास बैठा ईश्वर की असीम शक्ति और दया के सम्बन्ध में धार्मिक बातचीत कर रहा था। यों ही कहीं पढ़ा हुआ एक मज़ाक उससे कर बैठा। पूछा—"क्या ईश्वर सर्वशक्तिमान है?"

डन ने हामी भरी—"अवश्य।"

"अच्छा बताओ क्या ईश्वर इतना बड़ा पत्थर बना सकता है जिसे वह स्वयं न उठा सके?" मैंने प्रश्न किया।

डन ने आँखें फाड़ कर मेरी ओर देखा—"क्यों नहीं बना सकता?"

प्रश्न को दोहराकर मैंने व्याख्या की—"यदि ईश्वर ऐसा पत्थर बना सकता है तो उस में उस पत्थर को उठाने की शक्ति नहीं होगी और यदि इतना

बड़ा पत्थर बना नहीं सकता तो इतना बड़ा पत्थर बनाने की शक्ति न होगी। तुम कहते हो, ईश्वर सर्वशक्तिमान है।"

डन को इस तर्क से परेशान होते देख मैंने आगे बात की—"प्रकृति के नियम किसने बनाये हैं?"

डन ने बताया—"ईश्वर ने।"

मैंने पूछा—"तो ईश्वर प्रकृति के नियम को क्यों तोड़ेगा? यदि नहीं तोड़ेगा तो कुमारी के गर्भ से ईसा का जन्म कैसे हो गया?"

डन ने बहुत सोच कर बताया कि स्त्री-पुरुषों के साधारणतः सम्बन्ध से भगवान के पुत्र का जन्म इसलिये नहीं हुआ कि वह तरीका अपवित्र है। मैंने जिज्ञासा की—"प्रकृति में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध किसने बनाया है?"

उसका उत्तर था—"ईश्वर ने।"

फिर मैंने पूछा—"ईश्वर क्या पापी है जो अपवित्र वस्तु बनायेगा?"

डन सप्ताह भर यही सोचता रहा। मंगलवार के दिन पादरी के आने पर उस ने यह प्रश्न पादरी से पूछ डाले। पादरी ने उसे शांति से सुनने का उपदेश देकर पूछा—"तुम्हारा विश्वास है कि ईश्वर है और उसने संसार को बनाया है और वह सर्वशक्तिमान है?"

डन के हामी भरने पर पादरी साहब ने कहा—"सर्वशक्तिमान ईश्वर चमत्कार कर सकता है। उसी चमत्कार से उसने निष्कलंक कुमारी के गर्भ से अपने पुत्र को जन्म दिया। व्यर्थ का तर्क नहीं करना चाहिये। उससे पाप होता है।"

डन का समाधान हो गया। पादरी ने डन से पूछा—"आखिर यह तर्क तुम्हारे दिमाग़ में आ कहाँ से गया?" डन ने मेरा नाम बता दिया। पादरी ने मुझसे एकांत में बात की—"ये सिपाही अनपढ़ हैं। इनसे ऐसी बातें नहीं करनी चाहिये। विश्वास ही तो एक चीज़ है जो इनकी आत्मा को शान्ति दे सकती है। उसे तोड़ना नहीं चाहिये।"

गोरा बारक के समीप ही छोटी-सी जगह दीवार से घेर कर पाकिस्तान के वर्तमान यातायात मंत्री डाक्टर खाँ साहब को रखा गया था। खाँ साहब नज़रबन्द थे। उन दिनों के हिसाब से उन्हें १०-१२ रुपये रोज़ व्यय के लिये मिलते थे। आजकल के हिसाब से ३०-३५ रुपये समझिये। उनसे कभी-कभी चोरी-छिपे बात हो जाती थी। उन के यहाँ बेहिसाब फल इत्यादि आ सकते थे और वे गोरों को भी बाँटते रहते थे इसलिये गोरे हमारे मिलने-जुलने को

शिकायत नहीं करते थे। वैसे कोई जाकर चुगली खा लेता हो तो दूसरी बात थी। खां साहब मेरे लिये भी सब कुछ भेजने के लिये तैयार थे पर मैं विनय-पूर्वक इन्कार ही कर देता। हां पुस्तकों की बात दूसरी थी। एक बहुत अच्छी पुस्तक Historical Materialism by Bukharin उन्हें पं० जवाहरलाल नेहरू दे गये थे और खां साहब ने मुझे दे दी थी।

हेड जेलर मि० टैनी समझदार आदमी थे। ऐसी शिकायतें टाल जाते—बात कर लेंगे तो क्या है, जेल की दीवार थोड़े गिरा देंगे। टैनी साहब घर गृहस्थ प्रौढ़ व्यक्ति थे। परिवार बड़ा था बल्कि कहिये जवानी के उबाल के दिनों में दो परिवार बना बैठे थे। अब निभा रहे थे। कुछ भैंसे रखी हुई थीं जिनका दूध बेचते थे। भैंसे कैदियों के राशन के गल्ले और जेल के पशुओं के भूसे पर पलती थीं इसलिये वे कैदियों को व्यर्थ चिढ़ाना नहीं चाहते थे। कभी कोई जमादार या छोटा अफ़सर कैदियों की तलाशी लेकर कैदियों का रुपया पैसा निकाल कर सज़ा के लिये पेश करता तो समझा देते—"क्या फायदा? रहने दो। यों पैसा सरकार के पास चला जायगा। कैदी के पास रहेगा तो तुम्हें भी देगा।" उनसे कैदी बहुत प्रसन्न थे। रिश्वत लेकर सब काम कर देते थे। कैदी इन्हें आत्मीयता और आदर से 'टैनी बाबा' कह कर सम्बोधन करते थे। टैनी रिश्वत के लिये तंग भी नहीं करते थे। जिसकी जैसी सामर्थ्य होती वैसी ही भेंट स्वीकार कर लेते थे। कुछ लोग तो उनके जूते में चवन्नी डाल कर ही हाथ जोड़ उन्हें प्रसन्न कर लेते थे।

गोरा बारक में छः महीने गुज़ार चुका था। मन में दबी आपसी घृणा को कब तक दबा कर रखा जा सकता था। चाहता था कोई शिकायत या माँग न करूँ पर आखिर करनी पड़ी कि मैं असभ्य गोरे सिपाहियों के साथ नहीं रहना चाहता। मुझे गोरा बारक से हटा कर दूसरे बी० क्लास के कैदियों के साथ तो नहीं रखा गया बल्कि अलग एकांत में रख दिया गया। नैनी जेल में एक ओर दो कमरे; बराण्डे, गुसलखानों सहित बने हुए हैं जिन्हें एक खूब ऊँची गोल दीवार से घेर दिया गया है। नाम तो इस जगह का 'कुत्ताघर' था पर जगह बहुत अच्छी थी। पं०जवाहरलाल नेहरू, मौलाना आज़ाद आदि को यहीं रखा जाता था। वे उन दिनों इस जेल में नहीं थे। शायद देहरादून भेज दिये गये थे। उसी जगह मुझे बन्द कर दिया गया। अन्तर यह था कि पं० जी यहां रहते समय सुबह-शाम व्यायाम के लिये जेल की चारदिवारी के साथ घूम आ सकते थे या दौड़ लगा सकते थे। मुझे ऐसी इजाज़त नहीं थी।

बिलकुल अकेला पड़ जाने से मैं दिन भर पढ़ा करता। यहाँ ही मैंने 'स्वयं शिक्षक' की सहायता से फ्रेंच का अभ्यास शुरू किया था। खाली समय कहानियाँ भी लिखता रहता। प्रायः साल भर ऐसे ही गुज़रा।

मेरे टिकट पर मुझे मोज़े बुनने का काम दिया गया था परन्तु टैनी साहब ने न तो कभी मोज़ा बुनने की सिलाइयाँ और न सूत ही मेरे यहाँ भेजा। इसलिये मेरे जेल का श्रम पूरा करने का प्रश्न उठा ही नहीं। दिन भर पढ़ना-लिखना ही समय बिताने का उपाय था। पहले अंग्रेज़ी में लिखने का अभ्यास शुरू किया। कई कापियाँ भर डालीं। फिर सोचा, मेरी अपनी एक भाषा है मैं उस में ही क्यों न लिखूँ। यदि मैं कोई काम की बात—साहित्यिक दृष्टि से ही सही—लिख सकूंगा तो उससे अंग्रेज़ी साहित्य को समृद्ध करना मेरा कर्त्तव्य है या अपनी भाषा हिन्दी को। यह युक्ति ऐसी चुभी थी कि केवल हिन्दी में ही लिखने का प्रण-सा कर लिया। अपनी लिखी चीज़ों को कठिन परीक्षक या आलोचक की दृष्टि से देखता और फिर लिखता।

नैनी जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट का तबादला हो गया। मेजर हाजी सलामत उल्ला आये। ओवेराय तो कुछ भोला भाला ही आदमी थे। न अफ़सरों के कर्त्तव्य निबाहने की परवाह करते थे और न कैदियों के प्रति कड़ाई। हाजी साहब की कड़ाई की बहुत धूम थी। लेकिन मुझे उनकी कड़ाई प्रायः अफ़सरों के प्रति ही अधिक अनुभव हुई। वे कुछ-न-कुछ करते रहना चाहते थे। उन्होंने स्वयं ही पूछा—"तुम्हें हां अकेले रहना अच्छा लगता है?" मैंने उत्तर दिया—"मजबूरी है, रखा गया हूँ तो रह रहा हूँ।" नहीं मालूम किस आज्ञा से या किस प्रयोजन से मुझे इतने दिन अकेले रखा गया। हाजी ने मुझे गोरा बारक की बगल में बी० क्लास की बारक में रहने के लिये भेज दिया।

बी०क्लास की बारक के चार कैदियों में दो राजनैतिक थे। एक काकोरी षड्यन्त्र के गोविन्दचरण कार और दूसरे बरेली गोलीकांड के ठा० टीकमसिंह। हम लोगों की अच्छी निभने लगी। कार दादा ने बंगला पढ़ने के प्रति मेरा उत्साह देखा तो शौक से पढ़ाने लगे। महीने दो महीने में खूब पढ़ने लगा। उन्हें बंगला सिखा देने का इतना उत्साह था कि जब मुझे फतेहगढ़ सेन्ट्रल जेल भेजा गया तो उन्होंने रवि बाबू की अनेक पुस्तकें और बसुमति की बहुत सी जिल्दें साथ दे दीं कि मेरा बंगला का अभ्यास छूट न जाये।

ठा० टीकमसिंह जैसे शरीर से विशद थे वैसे ही स्वभाव और व्यवहार में भी। १९३२ में ही वे लगभग ग्यारह वर्ष जेल काट चुके थे। उनका मामला

भी अंग्रेज़ नौकरशाही के न्याय का एक अच्छा उदाहरण था। उन्हें बरेली में राजनैतिक कारण से जिला मैजिस्ट्रेट पर गोली चलाने के अपराध में बारह वर्ष कठोर कारावास की सज़ा मिली थी। राजनैतिक बंदियों और दूसरे बंदियों में प्रायः एक अन्तर रहता है कि उनके अपराध की बात पूछने पर दूसरे कैदी अक्सर अपने ऊपर लगाये इल्ज़ाम से इन्कार कर जाते हैं। यही सुनने को मिलता है कि उनके दुश्मनों और पुलिस ने उनके विरुद्ध अदालत में झूठी गवाही खड़ी करके उन्हें सज़ा दिला दी। साधारण कैदियों को मिथ्या आशा बनी रहती है कि ऐसा कहते रहने से शायद किसी माध्यम से उनके मामले पर असर पड़ जाये और उनकी सज़ा में कमी हो जाये; और वे जेल से छूट जायें। काफ़ी आन्तरिकता हो जाने पर सच्ची बात भी निकल आती है। फिर भी अपना अपराध स्पष्टता से स्वीकार कर लेने वाले कैदी एक या दो प्रतिशत ही मिलेंगे। राजनैतिक कैदी इससे ठीक उलटा अपनी करनी को गर्व से बखानते थे। इस में अतिशयोक्ति हो जाने की भी सम्भावना रहती थी। प्रयोजन दूसरों का साहस बढ़ाना या स्वयं संतोष पाना दोनों ही हो सकते थे।

टीकमसिंह का कहना था कि उन्होंने कमिश्नर पर गोली नहीं चलायी थी न उनका उस मामले से सम्बन्ध था। उनके विचार जरूर राजनैतिक थे। पुलिस यह पता नहीं लगा सकी कि अपराधी कौन था? पर अपनी ऐसी अयोग्यता पुलिस कैसे स्वीकार कर लेती? टीकमसिंह बरेली के हाईस्कूल में पढ़ते थे। शरीर अच्छा था और निर्भीक थे इसलिये उन्हें ही फँसा दिया गया। कमिश्नर को गोली मारने जाने वाले युवक का सशक्त शरीर और साहसी समझा जाना तो आवश्यक था। यों भी उन्हें झूठ बोलते नहीं देखा। साफ़ कहते थे कि सज़ा तो मैं काट ही चुका हूँ, अब छिपाने से क्या फ़ायदा? परन्तु यह काम मैंने दरअसल नहीं किया। अंग्रेज़ सरकार ने जब बी० क्लास का नियम बनाया तो टीकमसिंह को यह सुविधा देने के लिये भी तैयार न थी। इसके लिये उन्हें साठ दिन का अनशन व्रत करना पड़ा। शरीर उनका अब भी लहीम-शहीम था परन्तु साठ दिन के उपवास से सेहत बरबाद हो चुकी थी। कोई आध्यात्मिक शक्ति पा लेने का भी संतोष उन्हें न था।

आदर पाने की इच्छा मनुष्य स्वभाव का अंग है। मनुष्य के जैसे विचार और आदर्श होते हैं उसी के अनुसार आदर की भी कल्पना होती है। जेलों में आदर की भी विचित्र धारणाएँ अनुभव में आती हैं। जेल में अपने आपको ग़रीब घर का बताने वाला तो शायद ही कोई मिलेगा। अपने घर की समृद्धि

की डींग हांक कर आदर पाने के प्रयत्न का ऐसा चलन रहता है कि जेल में कहावत बन गयी थी कि "गांव घर में तो सभी की छत पर बावन बीघे पोदीना रहता है।" डाके के अपराध में सज़ा पाये लोगों से पूछिये कि जब इतनी समृद्धि थी तो डाका डालने क्यों गये थे? तो उत्तर मिलेगा—"कोई रुपये पैसे के लिये थोड़े ही गये थे; सोहबत से शौक लग गया।"

जेल में कुछ करके आदर और सम्मान पाना तो सहल नहीं होता। अमीर घर का समझे जाकर आदर पाने की लालसा बहुत स्वाभाविक हो जाती है। अमीर बन जाने की भी जरूरत नहीं केवल दम्भ-मात्र पूरा होना चाहिये। कभी राजनैतिक कैदी भी ऐसी धारणा का शिकार बन जाते थे। अपने एक साथी थे। मीठे का लोभ संवरण न कर सकने के कारण उन्होंने तिकड़म से कुछ गुड़ मंगवाने का यत्न किया। जेल से बाहर काम पर जाने वाला कैदी छिपाकर गुड़ ला रहा था तो पकड़ा गया। उसने बक भी दिया कि गुड़ अमुक व्यक्ति के लिये ले जा रहा था। हमारे साथी को इसमें अपने अपमान की आशंका हुई। अपमान अधिक इसलिये कि उन्होंने 'गुड़' मंगवाया था 'चीनी' नहीं। उन्होंने तिकड़म पर तिकड़म की। अधिक पैसा खर्च करके गुड़ की जगह चीनी रखवा दी। यह खयाल न आया कि चीज़ ही गायब कर दें। शायद यह दिखाना भी सम्मानजनक था कि चीनी खाये बिना नहीं रह सकते।

जब आदर ही लक्ष्य रह जाये, सत्कर्म की चिन्ता न हो तो आदमी उल्टा भी बढ़ सकता है। कुछ कैदी बहादुर या 'बदमाश' समझे जाकर ही ख्याति पा लेना चाहते थे। इसका उपाय था सुपरिन्टेन्डेन्ट या जेलर पर हाथ चला देना। सज़ा तो इसके लिये, तीस बेंत की बहुत कड़ी मिलती थी पर नाम जरूर हो जाता था। पांच-दस रुपये खर्च कर सकने वाले कैदी बदमाश समझे जाने वाले कैदियों को अपना गुर्गा बना कर ही रौब और प्रतिष्ठा जमाने की चेष्टा करते थे। ऐसे ही एक किराये के गुर्गे से डा० टीकमसिंह को वास्ता पड़ गया। उन्होंने एक मिजाजी कैदी को किसी बात पर फटकार दिया था। बाद में एक दिन देखा कि एक छिछोरा-सा छोकरा कैदी उनके सामने कुछ दूर से खम ठोक रहा था। कभी उनके सामने आकर शेखी से दो-चार सपाटे लगा जाता! टीकमसिंह गम्भीर प्रकृति के आदमी थे। छोकरे के छिछोरेपन से उत्तेजित न होकर उन्होंने उसे समीप बुला कर पूछा—"क्यों, क्या बात है? ऐसा बेचैन हो रहा है।"

टीकमसिंह का लहीम शहीम शरीर सामने देख छोकरे ने हाथ जोड़ दिये—"गरीब परवर, मेरी कोई खता नहीं।.........ठाकुर साहब कह रहे थे हुज़ूर की बेइज़्ज़ती कर दे, दो रुपये देंगे। महीना भर रोज़ आध सेर दूध देने को भी कहा है कि कसरत कर तैयार हो जाऊँ। सरकार, आपका बच्चा हूँ। ऐसी बे-अदबी भला कैसे कर सकता हूँ। उन्हें दिखाने के लिये आपके सामने दूर से खम ठोक जाता हूँ खता माफ़ हो।"

टीकमसिंह हँस दिये—"पट्ठे तू महीना भर दूध पिये जा। चाहे जितने खम ठोका कर हमारा कुछ नहीं बिगड़ता।" ऐसे झगड़ों में राजनैतिक कैदियों के फँस जाने की भी सम्भावना रहती थी। कभी शेखीखोर कैदियों को दूसरे कैदियों की नज़रों में राजनैतिक कैदियों का सम्मान असह्य हो जाता। कभी जेल के अधिकारी ही राजनैतिक कैदियों का गर्व तोड़ना आवश्यक समझ लेते।

अवध के एक ऐसे ठाकुर साहिब से जेल में वास्ता पड़ा था। किसी ताल्लुकेदार के सम्बन्धी होने के कारण उन्हें बी० क्लास का सम्मान और सुविधाएँ दे दी गयीं थीं शिक्षा के नाम पर कोई भी भाषा सुविधा से लिख पढ़ नहीं सकते थे। राजा साहब का सम्बोधन उन्हें अधिक पसन्द था। सो हम लोग भी उन्हें राजा साहब ही पुकारते थे। नाम था जीतसिंह। हम लोगों ने उसे जीतबहादुरसिंह बना दिया। कुछ दिन बाद विजयजीतबहादुरसिंह हो गया और फिर विजयप्रतापजीतबहादुरसिंह और उससे पहले राजा की उपाधि जुड़ी रहती। ज्यों-ज्यों नाम बढ़ता जाता राजा साहब की आँखों की मस्ती और मूँछों की ऐंठ भी बढ़ती जाती। दस्तखत उर्दू में कर लेते थे। क्रांतिकारी कैदियों के जब-तब अंग्रेज़ी हिन्दी की मोटी-मोटी पुस्तकें खरीदते रहने या पत्रिकाएँ मँगाते रहने से, उनके बहुत विद्वान और बड़े आदमी होने का रोब अधिकारियों और कैदियों पर छाया रहता था। ठाकुर साहब ने एक दिन मुझ से अनुरोध किया कि मैं उनके नाम से एक परचा सुपरिन्टेन्डेन्ट के पास कुछ किताबें मँगाने के लिये लिख दूँ। किताबों के नाम पूछने पर उत्तर मिला—"आप ही ज़्यादा अच्छा समझते हैं; अंग्रेज़ी में हों, बढ़िया जिल्द वाली सुनहरी छाप की, सिरहाने रखने के लिये।"

राजा साहब के किताबें मँगाने से लाभ तो हमी लोगों को होता इसलिये तुरन्त उनके नाम से एक परचा बनवा दिया गया। कैदियों में अफवाह भी फैल गयी कि राजा साहब की भी बड़ी-बड़ी किताबें आ रही हैं। किताबें कभी

न आ सकने पर जेल के बाबू से कारण पता लगा कि राजा साहब के हिसाब में पैसा ही नहीं था।

राजा साहब अपनी बहिन या मामा की शादी की कहानी बार-बार सुनाया करते थे, जिसमें काबुल से हरे नारियल और ल ग के गुच्छे और बादामों की टहनियाँ, शोभा के लिये लंका से मँगवाई जाने की चर्चा रहती। राजा साहब को अपनी कामावासना दिखाने का भी बहुत शौक था इसलिये बी० क्लास के हाते के फाटक के जंगले के पास खड़े हो, लौंडों को झांका करते। यदि हम वहाँ न होते तो सम्भवतः भीतर भी बुला लेते परन्तु बी० क्लास की 'प्रतिष्ठा' के विचार से यह हमें सह्य न था। राजा साहब लौंडे को फाटक की दूसरी ओर बुलाकर एक हाथ से मूंछ ऐंठते हुए दूसरे हाथ से उसका हाथ दबाकर ही वासना का उद्वेग पूरा कर लेते थे।

राजा साहब अपने आपको एक हद तक राजनैतिक कैदी ही समझते थे। कहते थे अवध के एक कमिश्नर से अदावत के कारण ही पुलिस ने उन्हें जेल में पहुँचा दिया। अपनी फौजदारी की कहानी सुनाने लगते तो तीस-चालीस बन्दूकें साथ ले जाने का किस्सा भी सुना देते। एक दिन बगारी शेखी दूसरे दिन याद न रहती थी। कौतूहल से उनके अपराध की कहानी पता लगाई तो सुना कि गांव की किसी धोबिन को नूरजहाँ बनाने के प्रयत्न में उसके धोबी को शेर अफगान बना बैठे थे परन्तु खुद जहाँगीर न बन सके।

उस संकुचित संसार में भी ईर्षा, स्पर्धा के दांवपेंच से लोगों का समय कटता था। कुछ लोग व्यसनी होने का गर्व प्रकट करने के लिये 'लौंडे' पालने का प्रदर्शन भी करते थे। लौंडे छैलापन दिखाने के लिये तंग जांघिया-कुर्ती पहन कर बल खाते चलते थे। हमारे समाज की सभी हीन प्रवृत्तियां अपनी तृप्ति के लिये जेलों में और अधिक विकृत रूप धारण कर लेती हैं। आत्मसुधार की भावना का कभी कोई उदाहरण नहीं देखा। समाज के न्याय के रक्षक अपनी शक्ति से अपराधियों से बदला लेते हैं और अपराधी उस विकट परिस्थिति में भी अपनी बात पूरी करते रहने या उन पर जकड़े गये नियमों का उल्लंघन कर सकने के गर्व में रहते हैं।

न्याय की रक्षक शासक शक्ति का विश्वास है कि जेल के दण्ड का भय लोगों को अपराध से रोकता है। अनेक प्रकार के अपराधियों से बात करके ऐसा कोई प्रमाण नहीं पाया कि दण्ड का भय अपराध को रोक सकता हो। राजनैतिक कैदी या ऐसे अपराधी जो अपनी आन की रक्षा के लिये आवेश

में कुछ कर गुजरते हैं दण्ड की बात सोचते ही नहीं या दण्ड भुगतने के लिये भी तैयार रहते हैं। ऐसे लोगों को अपराधी वृत्ति का या असामाजिक समझा भी न जाना चाहिये। अपराधी वृत्ति के लोगों को भी दण्ड का भय अपराध से नहीं रोकता। अपराध करते समय उन्हें पूरा विश्वास रहता है कि वे पकड़े नहीं जायेंगे। वास्तव में चार या पांच प्रतिशत से अधिक अपराध पकड़े भी नहीं जाते। अपराध पकड़ लिया जाने पर वे इसे अपनी किस्मत समझ लेते हैं। जेल काटते समय वे अपराध न करने का निश्चय नहीं करते बल्कि भविष्य में अपराध को अधिक सतर्कता से करने का ही निश्चय करते हैं। सहधर्मियों से अनुभवों का आदान-प्रदान करके वे अपना आत्म-विश्वास और चातुर्य भी बढ़ाते रहते हैं।

भिन्न-भिन्न जेलों में अनेक सम्प्रदायों के अनेक कैदियों से बात करने पर क्रान्तिकारियों के अतिरिक्त किसी को भी नास्तिक नहीं पाया। सभी लोगों को अपने-अपने ढंग से आस्तिक और ईश्वर की दया और न्याय में विश्वास रखने वाला ही पाया। परन्तु यह विश्वास उन्हें असामाजिक कामों से न रोक सका था क्योंकि वे अपराध को व्यक्ति और शासन के बीच की बात और ईश्वर भक्ति को अपनी निजि और भगवान की बात समझते थे। उन्हें पूरा विश्वास था कि शासन और समाज उनके प्रति निर्दयी है परन्तु भगवान सदय होगा। जेलों में कांग्रेसी रामराज में गांधीवादी आध्यात्मिकता का प्रभाव इस दिशा में क्या पड़ा है, कह नहीं सकता। १९४९ में जब एक मास के लिये लखनऊ जेल में रहने का अवसर हुआ था तो जेल अधिकारियों के अंग्रेज़ी राज की भक्ति के स्थान पर कांग्रेसी राज के प्रति भक्ति प्रकट करने के सिवा और कोई परिवर्तन दिखाई नहीं दिया। अस्तु—

क्रान्तिकारी कैदियों को प्रायः ही एक जेल में दो अढ़ाई वर्ष से अधिक नहीं रहने दिया जाता था। आशंका रहती थी कि कहीं अपने प्रभाव से चेले मूंड़ कर भाग जाने का तिकड़म न कर लें। ऐसी आशंका के लिये कुछ आधार भी था ही। जिन लोगों को उम्र कैद की सज़ा दे दीगयी थी और जो लोग अंग्रेज सरकार से हार मान जाने के लिये तैयार नहीं थे, उनका ऐसा प्रयत्न करना अस्वाभाविक भी नहीं था। स्वर्गीय शचीन्द्रनाथ सान्याल ऐसी कोई न कोई योजना चलाते ही रहते थे। एक बार तो लोहे के जंगले काटने के लिये आरी वगैरा भी उन्हों ने मंगवा ली थी पर यह चीज़ें पकड़ी गयीं। तब से उन पर और ज्यादा कड़ाई रखी जाने लगी थी। सान्याल दादा का मस्तिष्क निश्चल

नहीं रह सकता था। एक ओर तो जेल से भाग जाने की योजनाएँ बनाते रहते थे दूसरी ओर सरकार से मुक्ति के लिये दया की प्रार्थना (मर्सी पेटीशन) भी करते रहते थे। साफ़ बात यह है कि जेल से भागने की चेष्टा करने में मुझे नैतिक आपत्ति तो कोई नहीं थी पर मैं ऐसा कोई काम नहीं करना चाहता था जिस की सफलता का मुझे पूरा विश्वास न हो और असफल हो जाने पर मेरी खिल्ली उड़े। कुछ दिन बाद क्रान्तिकारियों का तबादला कर देने के नियम के कारण मुझे नैनी जेल से फतेहगढ़ सेन्ट्रल जेल में भेज दिया गया।

फतेहगढ़ जेल में उस समय सुपरिन्टेंडेंट मेजर ओबेराय ही मिले परन्तु हेड जेलर थे बहुत बदनाम सर्दार गंडासिंह। अंग्रेज़ सरकार ने उन्हें राजभक्ति या राजनैतिक कैदियों के साथ सख्ती का व्यवहार करने के उपलक्ष में 'आफिसर आफ ब्रिटिश एम्पायर' का खिताब दे दिया था। कुछ दिन बाद ओबेराय की जगह मेजर रामनारायण भंडारी सुपरिन्टेंडेंट बनकर आ गये। भंडारी की कीर्ति गंडासिंह से भी कुछ ज्यादा ही थी। जेल में बात-बात पर कड़ी सज़ा देने में उनका बहुत नाम था। उनके जेल में कदम रखते ही जेल भर में ऐसे सन्नाटा छा जाता था मानों सबको सांप सूंघ गया हो। मेजर भंडारी और दूसरे भी कई सुपरिन्टेंडेंटों के रोब और मनमानी कर सकने की कई दंत कथायें जेलों में प्रसिद्ध थी। उदाहरणतः जेल के किसी पशु के सुपरिन्टेंडेंट के सामने सिर हिला देने या रंभा देने पर पशु को बेतों की या तनहाई बंदी की सज़ा दे देना। भंडारी के लिये मशहूर था कि एक बार उनके सड़क पर जाते समय हवा से पीपल के पेड़ के पत्ते खड़-खड़ा गये। साहब ने पीपल को बारह बेंत लगा दिये जाने का आर्डर लिख दिया।

सरकारी व्यवहार में जितना रोब वायसराय का होता था जेलों में सुपरिन्टेंडेंट का रोब उससे कुछ अधिक ही था। अंग्रेज सरकार ने जेलों में सुपरिन्टेंडेंट के सम्मान के कुछ ऐसे कायदे बना दिये थे कि सुपरिन्टेंडेंटों में रोब अनुभव करने का लोभ बढ़ता जाता था। इन कायदों में कांग्रेसी राज में कुछ कमी आ गयी है या नहीं, कह नहीं सकता। सुपरिन्टेंडेंट साहब जब भी जेल के मुआइने के लिये चलते थे, उनसे पांच-छः कदम आगे-आगे जेल के दो सिपाही शरीर रक्षक के तौर पर चलते थे। सुपरिन्टेंडेंट के किसी हाते में प्रवेश करने से पहले ही 'रपट बढ़' जाती थी कि साहब आ रहे हैं। रपट होते ही सब कैदी गिनिट नर एक लाइन में बैठ जाते थे। कैदियों को लाइन में, एक विशेष मुद्रा में; घुटने जोड़, एड़ियों पर बैठना होता था और उनके दोनों हाथ

सामने खुले फैले रहते थे। ताकि विश्वास रहे कि कैदी के हाथ में कोई आशंका-जनक वस्तु नहीं है। किसी कैदी को साहब के सामने पेश किया जाता था तो उसे दो सिपाहियों के बीच खड़ा होना पड़ता था। योरुपियन कैदियों को या बी क्लास के कैदियों को साहब के सामने उस तरह तो नहीं बैठना पड़ता था परन्तु बिलकुल सीधे, निश्चल, दोनों हाथों में अपना रजिस्टर (टिकट) थामकर खड़ा होना पड़ता था। क्रान्तिकारी यों बुत की तरह खड़े होने में अपना अपमान समझ कर यह कायदा न मानते थे। कई बार इस पर झगड़े हुए। आखिर जेल अधिकारी गम खा गये। साहब की बगल में हैड जेलर रहता था। अगल-बगल और तीन चार सिपाही। पीछे असिस्टेंट जेलर, जेल का डाक्टर, दारोगा, गोदाम बाबू वगैरह। धूप या वर्षा होने पर एक कैदी-जमादार साहब के सिर पर छत्र राजछत्र के आकार से बड़ा—उठाये रहता था। जेल अधिकारियों की अपना रोब कायम रखने की इच्छा के कारण अधिकारियों और क्रान्तिकारियों में सदा ही तनातनी चलती रहती थी।

फतेहगढ़ सेन्ट्रल जेल में मुझसे पहले दो क्रान्तिकारी कैदी थे। एक मन्मथनाथ गुप्त और दूसरे मणीन्द्रनाथ बैनर्जी। मन्मथनाथ काकोरी षड्यंत्र के अभियुक्त थे और मणीन्द्रनाथ सी० आई० डी० के डिपुटी सुपरिन्टेंडेंट बैनर्जी (इनकी पर्याप्त कीर्ति ऊपर कह आया हूँ) को गोली मारने के अभियुक्त थे। मणी रिश्ते में डिपुटी सुपरिन्टेंडेंट बैनर्जी के भान्जे थे। बी क्लास या क्रान्तिकारी कैदियों का हाता काफ़ी बड़ा था और उसमें यह दो कैदी बंद थे। सर्दार गंडासिंह के प्रबन्ध से हाते पर लोहे की चादर का दरवाज़ा था। भीतर से बाहर और बाहर से भीतर कोई समाचार आने-जाने की सम्भावना नहीं थी। मन्मथ और मणि मेरे आने से पहले ही आत्म-सम्मान के प्रश्न पर जेल अधिकारियों से काफ़ी लड़ाई लड़ चुके थे और लम्बी भूख हड़ताल के बाद समझौता हुआ था। प्रश्न था जेल के नियम के अनुसार रस्सी बटने से इनकार करना और जेल नियम के अनुसार बी० क्लास के कैदियों को मिलने वाली सुविधाएँ उन्हें न दी जाना। मैं नैनी जेल से फतेहगढ़ मई-जून के आरम्भ में आया था। आकर देखा कि फतेहगढ़ में नैनी की तरह बारक में रात के समय पंखों का प्रबन्ध नहीं था। न पलंग दिये गये थे। इस सम्बन्ध में शिकायत करने पर और नैनी की योरुपियन बारक और बी० क्लास का उदाहरण देने पर उत्तर मिलता कि जेल मैनुअल (जेल विधान) में ऐसा कोई कायदा नहीं है। जेल में जेल मैनुअल ही 'वेद' समझा जाता था। मज़े की बात यह

थी कि जेल मैनुअल कैदियों को नहीं दिखाया जाता था, जैसे वेद तक दास और शूद्र की पहुँच नहीं होती। वह शासक वर्ग के अधिकारों की रक्षा का साधन है। हम लोगों के जिद्द करने पर ही वह हमें दिखाया गया।

अधिकारियों के सख्ती करने पर जो जेल मैनुअल में नहीं लिखा वह हो नहीं सकता और जो लिखा है वह टल नहीं सकता। जेल मैनुअल तो इस ढंग से बना था कि उसका पालन हो ही नहीं सकता था। यदि कोई अफ़सर उसका पूरा पालन करने का यत्न करता तो अपनी जान ही जोखिम में डालता। यही बात आज भी होगी। उदाहरणतः उन दिनों जेल मैनुअल के अनुसार कैदियों को गाने-बजाने का, एक साथ मिल कर हंसी-ठट्ठा करने का अथवा जेल की रसोई से मिली दाल-रोटी के अतिरिक्त कोई चीज़ रांधने का या रुपया-पैसा पास रखने का कड़ा निषेध था। परन्तु त्यौहारों के अवसर पर कड़ाई से यह नियम लागू करने का साहस और क्षमता किसी अफ़सर में न थी। दिवाली की रात हर सेन्ट्रल जेल में हजारों रुपये का जुआ हो जाता था। नाच-गाना भी होता था। होली के अवसर पर तो नाच-गाने का ऐसा भयंकर समारोह होता कि हम दो-दो सौ गज परे की बारकों से पांव के धमाके और घुंघरुओं का शब्द सुन पाते। नैनी बाबा ऐसे जेलर होते तो उचित दक्षिणा देने पर हारमोनियम तबला भी एक दो रातों के लिये आ सकता था वनों तसले और घड़े की गमक से तो वातावरण गूंजता ही रहता। फाग, लावनी, बिरहे और गज़लों की उन्मुक्त तानें भी उठती रहतीं। जेल भर में कड़वे तेल की पूड़ी पकवान बनते और बंटते। छोटे-मोटे अफ़सर इस समारोह का आनन्द उठाते थे। जेलर और सुपरिन्टेन्डेन्ट अजान बन कर अपना रोब बनाये रहते।

नैनी जेल की कुत्ता घर बारक में यद्यपि मैं बिलकुल अकेला था और सुविधाएँ अधिक थीं, समय का सद्-उपयोग फतेहगढ़ जेल में ही अधिक हुआ। कारण यह कि मन्मथ और मणीन्द्र खूब आत्मानुशासन से चल रहे थे। जेल में आते समय दोनों की ही आयु बहुत कम थी। अभी विद्यार्थी ही थे। मणी की सज़ा तो केवल सात ही वर्ष की थी परन्तु मन्मथ को आजन्म कारावास का दण्ड था। दोनों ही दिन का अधिकांश भाग स्वाध्याय में लगाते थे। मन्मथ ने उस समय भी फ्रैंच का खूब अभ्यास कर लिया था। दर्शन पढ़ रहे थे। हिन्दू-उर्दू की भी जो पुस्तक मिल जाती चाट जाते। समय पर सोना, जागना और व्यायाम भी। उस समय मन्मथ को जेल से छूट जाने की कोई

आशा नहीं थी; थी भी तो बीस वर्ष पूरे करके ही। इसलिये ऐसे आत्मानुशासन के लिये बहुत दृढ़ निष्ठा की आवश्यकता थी।

जिस समय मैंने फतेहगढ़ जेल की बारक में कदम रखा मन्मथ और मणी ने एक क्रान्तिकारी बंदी के नाते हाथ मिलाकर और अंग्रेज़ी में बात कर मेरा स्वागत किया परन्तु मेरे सिर पर योरुपियन बारक की वर्दी का हैट, सामान, और कमोड वगैरा देखकर आपस में बंगला में छींटा कसा—"ये बेटा तो साहब है।" उन्हें मेरे बंगला जानने की कोई आशंका नहीं थी। मैं भी बात पी गया परन्तु ऐसे स्वागत का प्रभाव मन पर अच्छा नहीं हुआ। बहुत अधिक आत्मीयता या बेतकल्लुफी हम लोगों में कभी नहीं हुई। कुछ खिंचाव-सा बना रहता, ऐसा कि आपसी व्यवहार में शिकायत का मौका न आने देने की सतर्कता बनी रहती। वे लोग आपस में गपबाज़ी करते तो बंगला में और मुझसे बोलते तो अंग्रेज़ी में। मन्मथ हिन्दी क्या ठेठ बनारसी हिन्दी भी खूब अच्छी बोल लेते थे परन्तु मेरे पंजाबी होने या साहब होने के कारण अधिकांश में अंग्रेज़ी का ही व्यवहार करते। परिणाम यह हुआ कि अधिक समय पढ़ाई-लिखाई में जाता। मन्मथ से फ्रैंच की कई पुस्तकें मिल गयीं। फ्रैंच का अच्छा अभ्यास हो गया। हम दोनों ने इटालियन पढ़ना शुरु कर दिया।

पिंजरे की उड़ान की अधिकांश कहानियां मैंने फतेहगढ़ सेन्ट्रल जेल में ही लिखी थीं। एक उपन्यास भी लिखा था जो कभी प्रकाशित नहीं हुआ, इस योग्य है भी नहीं। आपस में कुछ खिंचाव रहने पर भी जेल अधिकारियों के साथ व्यवहार में कभी भेद नहीं आया। राजनैतिक कैदियों के जेल जीवन में सब से बड़ा संकट तभी आता था जब उन की जीवन शक्ति कोई निकास न पाकर आपसी मतभेद से ही टकराने लगती थी। जेल के अधिकारी सदा ही ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में रहते थे। राजनैतिक कैदियों के एक साथ रहने पर जेल अधिकारियों से उनका कोई न कोई संघर्ष चलते रहना ही अच्छा रहता था। फतेहगढ़ जेल में ऐसा भी समय आया। मन्मथनाथ गुप्त, मणीन्द्र बैनर्जी और मुझे तो कुछ उचित सुविधाएँ न मिलने की शिकायत थी ही तिस पर हमें समचार मिला कि जेल के दूसरे हाते में बन्द, क्रान्तिकारी कैदी रमेशचन्द्र गुप्त ने अनशन कर दिया है।

रमेशचन्द्र गुप्त कानपुर का विद्यार्थी था। कानपुर में यह बात फैल जाने के कारण कि वीरभद्र ने आज़ाद के साथ विश्वासघात किया है, वीरभद्र का शहर में रह सकना ही कठिन हो गया था। वह कानपुर छोड़ उरई में जा

बना था। इस विश्वास से कि वीरभद्र ने आज़ाद के साथ विश्वासघात किया है, रामलीला के अवसर पर उरई जाकर रमेश ने वीरभद्र पर गोली चला दी। वीरभद्र तो बच गया परन्तु रमेश गिरफ्तार हो गया। रमेश को सात वर्ष कठोर कारावास की सज़ा मिली थी। बहुत बार तकाज़ा करने पर भी उसे बी० क्लास में न रखा गया था। तंग आकर उसने मांग पूरी कराने के लिये अनशन कर दिया। यह मालूम होने पर कि क्रान्तिकारी कैदी उचित माँग के लिये अनशन कर रहा है, हम लोगों का भी कर्तव्य हो गया कि सहानुभूति में अनशन करके उसे नैतिक सहायता दें। रमेश को सन्देश भेज दिया कि तुम डटे रहना, हम लोग भी अनशन कर रहे हैं। हम लोगों ने जेल अधिकारियों को सूचना दे दी कि हम अपने साथ उचित व्यवहार न होने और रमेशचन्द्र गुप्त के साथ अन्याय के विरोध में अनशन कर रहे हैं। और अनशन आरम्भ कर दिया।

क्रान्तिकारी लोग अनशन को आध्यात्मिक प्रभाव डालने का या भगवान की सहायता पाने का साधन नहीं समझते थे। अनशन का अर्थ था अपनी मांगों के प्रति सार्वजनिक भावना की सहायता उत्पन्न करना और अपनी प्रतिद्वन्द्वी सरकार के प्रति जनता में घृणा और विरोध पैदा करना। हमारे अनशन का प्रभाव जनता तक समाचार पहुँचने से ही हो सकता था। फतेहगढ़ जेल में ऐसा अवसर प्रायः कम ही था। ऐसी अवस्था में हमारा अभिप्राय सरकार पर यह व्यक्त करना था कि तुम जो चाहो कर लो, हम दबेंगे नहीं। जैसे-तैसे सूचना बाहर चली ही गयी। जेल अधिकारियों के लिये यह ही बड़ी बात थी कि रमेश के अनशन की सूचना हमें मिल कैसे गयी। पहरे बदल दिये गये। पहले से भी अधिक कड़ाई हो गयी।

हमारा यह अनशन, जहाँ तक याद है अठारह या उन्नीस दिन ही चला। क्रान्तिकारी लोग अनशन के समय गांधीवादियों की तरह पानी में नीबू का रस या सोडाबाइकार्ब आदि कुछ भी डाल कर नहीं पीते थे। गांधी जी की तरह बादाम रोग़न की मालिश नहीं कराते थे। क्रान्तिकारियों के जेल जीवन में अठारह-उन्नीस दिन के अनशन का कोई विशेष महत्व नहीं था। मन्मथ और मणी पहले भी लगभग एक-एक माह का अनशन और मन्मथ उससे पहले किसी दूसरी जेल में साठ दिन का अनशन कर चुके थे। जोगेश चैटर्जी ने तो आगरा जेल में डेढ़ सौ दिन का अनशन किया था। अनशन के इक्कीस या चौबीस दिन गुज़र जाने के बाद बलात् दूध देना (फोर्स फीडिंग) आरम्भ कर दिया जाता था ताकि कैदी के मर जाने से जनता में अशान्ति न फैले। बलात्

दूध देने का ढंग था अनशनकारी की नाक से रबड़ की नली द्वारा पेट में दूध पहुँचा देना। नाक की राह रबड़ की नली पेट में पहुँचाने की यह प्रक्रिया बहुत पीड़ाजनक होती थी।

इस लम्बे अनशन या निराहार रहने से आत्मा के निर्मल हो जाने का कोई आभास न मुझे और न हमारे कभी किसी दूसरे साथी को हुआ। अनशन में पहले तीन दिन बहुत कष्ट होता है फिर अभ्यास होने लगता है। काफ़ी दिन गुज़र जाने पर उठने-बैठने या हाथ-पांव हिलाने में भी कष्ट होने लगता है। ध्यान केवल आता है भोजन का। कल्पना में तरह-तरह के भोजनों की गंध और स्वाद अनुभव होने लगते हैं। अनशन के अनुभवों के बारे में बहुत से साथियों से बात की है। हम लोग तो तीनों ही निरीश्वरवादी थे परन्तु टीकमसिंह बहुत आस्तिक थे। उन्हें भी साठ दिन के अनशन में कभी कोई आध्यात्मिक प्रेरणा या सांत्वना अनुभव न हुई। वे बचपन से और जेल में भी निरामिष भोजी थे परन्तु बताते थे कि जाने क्यों अनशन के समय और वस्तुओं की अपेक्षा उन का मन उबले हुए अंडे के लिये बहुत करता था। इस इच्छा को वे रोके ही रहे।

मन्मथ अपने पूर्व अनुभव के आधार पर बताया करते थे कि मेजर भंडारी अनशन करने वाले क्रांतिकारियों को पीड़ा पहुँचाने के लिये अपने चिकित्सा ज्ञान का भी पूरा उपयोग करते थे। यह ठीक है कि अनशन के समय बलात् दूध पिलाने (फोर्स फीडिंग) से बहुत पीड़ा होती थी और क्रान्तिकारी बलात् दूध पिलाने का विरोध करते थे परन्तु विरोध करने पर भी जब फेंटे हुए अंडे और संतरे का रस मिला हुआ दूध पेट में चला जाता था तो शरीर और मस्तिष्क को शांति अनुभव होती थी। यह स्वाभाविक था कि अनशन करने वाले का शरीर बलात् भोजन दिया जाने की प्रतीक्षा करने लगे। भंडारी आज्ञा दे देता कि बलात् दूध पिलाने की तैयारी की जाये। अनशन करने वाले के समीप एक मेज़ पर दूध और रबड़ की नलियां रख दी जाती थीं। अनशनकारी का अन्तरात्मा पीड़ा और विरोध के बावजूद दूध पेट में पहुँच जाने की सांत्वना की कल्पना करने लगता। उस समय भंडारी अपने अमले के साथ आता। अनशनकारी की नब्ज़ देख कर उपेक्षा से कह देता—"अभी क्या ज़रूरत है फोर्स फीडिंग की। अभी तो इसके शरीर में बहुत शक्ति है।" बलात् दूध देने का सामान हटा दिया जाता। उस समय अनशनकारी तात्कालिक पीड़ा से बच कर भी कितना निराश होता होगा ? जीवित रहने की इच्छा और

आशा का, जो कि जीव का स्वभाव है, कुण्ठित हो जाना कितना पीड़ाजनक होता होगा ?

अठारहवें या उन्नीसवें दिन समाचार मिला कि कानपुर से रमेश के सम्बन्धी बालकृष्ण शर्मा नवीन को लेकर आये थे। रमेश को बी० क्लास मिल जाने का आश्वासन दे दिया गया है और उसने अनशन तोड़ दिया है। हमारे अनशन का मुख्य आधार समाप्त हो गया इसलिये हमने भी अनशन समाप्त कर दिया, परन्तु यह भी कह दिया कि हमारी असुविधाएँ दूर न की गयीं तो हम फिर अनशन कर देंगे। अनशन के बाद हमारी माँगें पूरी हो गयीं परन्तु यह अनशन बहुत महँगा पड़ा।

जेल में पहले किये हुए अनशनों के कारण मणी बैनर्जी का स्वास्थ्य यों भी बहुत निर्बल था। उसे हृदय रोग हो गया था। इस अनशन से अवस्था और बिगड़ गयी। भंडारी ने मणी को उचित इलाज के लिये हमारी बारक से हटा कर अस्पताल के समीप बने कमरों में भिजवा दिया। तीन-चार दिन बाद ही हमें सूचना दी गयी कि बैनर्जी की अवस्था चिन्ताजनक है। हम चाहें तो उससे मिल आ सकते हैं। भंडारी के उस समय के व्यवहार को देखते यह असाधारण सौजन्य था।

हम लोगों ने हस्पताल जाकर देखा मणी की अवस्था इतनी खराब थी कि वह श्वास न आ सकने के कष्ट के कारण छटपटा रहा था। देख कर हम दोनों दहल गये। मणी के हाथ-पाँव सूज गये थे। आँखों पर सफेद झिल्ली-सी छा गयी थी। वह न लेट पाता था न बैठ सकता था। उसकी जीवन शक्ति बनाये रखने के लिये उसे आक्सीजन गैस दी जा रही थी। आक्सीजन देने वाला हस्पताल का डाक्टर इतना अनुभवी था कि उसे यह भी मालूम नहीं था कि सिलिंडर की नाली [illegible] और मुख में से गैस बाहर आ रही थी या गैस आ रही है या नहीं, यह देख सके। हमने अपने परिचित ज्ञान से बताया कि नाली के सामने दिया [illegible] देखो। गैस जाने पर लौ बहुत बढ़ जानी चाहिये। गैस दिया जाने का प्रभाव अच्छा ही दिखाई दिया।

कुछ सेकण्ड के लिये श्वास ठीक से आने लगता तो मणी ठीक ढंग और बहुत समझदारी से बात करने लगता था। इस सम्बन्ध में दूसरे भाग में क्रान्तिकारियों की विचारधारा के प्रसंग में भी लिख चुका हूँ। पुनरावृत्ति न करने के लिये यहाँ संक्षेप में ही लिखूंगा। यह स्पष्ट ही जान पड़ रहा था कि मणी

कुछ ही मिनिट का मेहमान है। उसका कष्ट मृत्यु की सम्भावना से भी अधिक भयानक जान पड़ रहा था। मणी की अवस्था से मन्मथ बहुत ही व्याकुल हो गया। मणी को सान्त्वना दे सकने के लिये या उसकी पीड़ा कम कर सकने के लिये; सम्भव-असम्भव सभी कुछ करने की इच्छा से, मन्मथ ने मणी के समीप बैठ, हाथ जोड़कर प्रार्थना के ढंग से कहा—"मैं तार्किक प्रवृत्ति के कारण नास्तिक हूँ। मुझे ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं परन्तु आस्तिकों का विश्वास है कि अंतिम समय भगवान से साक्षात्कार होता है। आस्तिक भगवान को अत्यन्त दयालू और चामत्कारिक शक्ति-सम्पन्न मानते हैं। सम्भव है मेरा तर्क गलत रहा हो इसलिये मैं प्रार्थना करता हूँ कि यदि सचमुच भगवान का कोई अस्तित्व है तो वे इस समय तुम्हारा दुख दूर कर दें। यदि तुम्हारा दुख दूर हो जाय तो मैं भगवान में विश्वास कर लेने के लिये तैयार हूँ।"

मन्मथ के यह प्रार्थना करते समय मणि श्वास के लिये अत्यन्त कष्टपूर्ण संघर्ष कर रहा था। उसके बाद उसकी श्वास की नली कुछ क्षण के लिये ठीक हो गयी। मणी खिन्नता से बोला---"डैम यौर गॉड एंड डैम हिज़ मर्सी (भाड़ में जाये तुम्हारा भगवान और भाड़ में जाये उसकी दया)। लोग बकते हैं कि अन्तिम समय भगवान दिखाई देता है। मुझे तो कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा। मेरे अन्तिम श्वासों के समय मेरा मस्तिष्क धुंधला न करो। मुझे कायर और कातर बनाने की चेष्टा न करो।" इतनी बात कह कर मणी का श्वास कष्ट चरम सीमा पर पहुँच गया। एक जबरदस्त हिचकी आई। उसकी श्वास की नाली सदा के लिये झटक गयी या हृदय उस दबाव को सहार न सका। पीड़ा से ऐंठा हुआ उसका शरीर शिथिल और सीधा हो गया। मणी के इन शब्दों को परलोक के द्वार पर या भगवान के सम्मुख खड़े व्यक्ति के अन्तिम शब्द कहा जा सकता है।

मणी की मृत्यु यद्यपि हस्पताल के पलंग पर हुई परन्तु उसका भाव अपने विचारों और आदर्शों के लिये रणक्षेत्र में जूझ जाने का ही था। सैद्धान्तिक दृष्टि से मणी का व्यवहार हि०स०प्र०स० या तत्कालीन क्रान्तिकारियों के आध्यात्म-सम्बन्धी विचारों का प्रतीक माना जा सकता है।

मणी की मृत्यु से हम लोग कुछ समय के लिये अवसन्न से रह गये परन्तु सप्ताह भर के भीतर ही हमारी अनशन की लड़ाई के विजय के स्वरूप रमेश-चन्द्र गुप्त को बी० क्लास देकर हम लोगों के साथ रहने के लिये भेज दिया गया। रमेश की आयु कम थी और मैट्रिक पास कर सकने से पहले ही जेल

पहुँच गया था। उस अल्हड़ नौजवान का पिस्तौल ले कर वीरभद्र पर आक्रमण करना देशभक्ति की भावना से, देशद्रोह के काम का विरोध करने का प्रतीक था। मन्मथ और मेरे कहने से रमेश ने पढ़ने-लिखने में मन लगाना शुरु कर दिया। कुछ ही दिन बाद बी० क्लास के एक कांग्रेसी सत्याग्रही कैदी कानपुर के शिवराम पांडे को भी हमारे साथ ही रहने के लिये भेज दिया गया। पांडे जी बहुत ही विनोदी और सरल स्वभाव हैं; इलाहाबाद या आगरा यूनिवर्सिटी के ग्रेजुएट। आजकल (१९५१ के चुनाव में) उत्तर प्रदेश विधान सभा के सदस्य हैं। पांडे जी अपना अधिकांश समय सत्याग्रही बन्दियों की भांति सरसों की तेल से मालिश, कसरत और गीता पाठ में लगाते थे। हमारा कुछ समय हो-हो, हा-हा में बीतने लगा।

शिवराम जी पांडे को क्रान्तिकारियों के प्रति सहानुभूति और आदर था। यह सुनकर कि मैं भगतसिंह का सहपाठी और सहयोगी रहा हूँ, उनका कौतूहल और बढ़ा। वे अपनी कई जिज्ञासाओं और शंकाओं का समाधान करने लगे। इसी प्रसंग में उन्होंने पूछा—"सुना है कि जब भगतसिंह जी और चन्द्रशेखर आज़ाद जी (वे आदर के लिये सदा जी शब्द का प्रयोग करते थे) विलायत से जहाज़ पर आ रहे थे, एक गोरे ने भारत माता की शान में कुछ अपशब्द कह दिये। भगतसिंह जी ने गोरे को पिल्ले की तरह कान से पकड़ कर उठा लिया और समुद्र में फेंक दिया। क्या यह बात सच है?" मुझे हंसी आ गयी। पांडे जी को बताया कि आज़ाद और भगतसिंह कभी विलायत नहीं गये थे। यह बात सच नहीं हो सकती। पांडे जी की इच्छा थी कि मुझ से समर्थन पाकर इस कहानी को अपने व्याख्यानों में सुनाकर देशभक्ति की भावना को प्रोत्साहन देते। इन्कारी सुन कर उन्होंने कुछ खेद और संदेह से मेरी ओर देखा। मानो, यह बात तो सच ही होनी चाहिये। मैं भगतसिंह के महत्व से ईर्षा वश इस घटना से इनकार कर रहा हूँ। बाद में भी अपने दल के नेताओं के बारे में असत्य बातें कहने या अत्युक्ति से इन्कार करने, उन्हें अपौरुषेय स्वीकार न करके मैंने बहुत से लोगों को निराश किया है। पर संस्मरणों में तो जो देखा है वही लिखना होगा, कल्पना की सामर्थ्य आजमाने का अवसर नहीं है।

अपनी गिरफ्तारी के बाद पहले लाहौर में दुर्गा भाभी और फिर दिल्ली में सुशीला दीदी की गिरफ्तारी का समाचार पत्रों से मिल चुका था। हम लोगों के अनशन से कुछ ही पहले १९३४ जून में प्रकाशवती की गिरफ्तारी दिल्ली

में हो जाने का भी समाचार मिल गया था। यह चिंता ज़रूर थी कि अब उनका क्या होगा? इससे पहले फरारी के समय वे मेरे भाई के पत्रों या पत्र लिखने वाले दूसरे लोगों के पत्रों में घुमा फिराकर अपनी बात लिख भेजती थीं। मैं भी, जो कुछ कहना होता, घुमा फिराकर उपमा और व्यजंना से लिख भेजता। महीने में एक ही बार पत्र लिख सकने का नियम था इसलिये पत्र कभी-कभी दो-तीन ताव के आकार का भी हो जाता, कभी इस से भी बड़ा। हमारे लिखे पत्र और हमारे नाम आये पत्र सब गुप्तचर विभाग के हाथों से गुजरते थे। गुप्तचर विभाग को भी सन्देह था कि हम लोग लक्षणा और व्यंजना से कुछ गुप्त बातें करते हैं, जिन्हें वे समझ नहीं पाते। उन्हें यह भी आशंका थी कि हम जेल से ऐसा सन्देश न भेज दें जिससे कोई उथल-पुथल मच जाये या ऐसा संदेश पत्र द्वारा न पा लें जिससे हम जेल तोड़ कर भाग जायें। गुप्तचर विभाग हमारे पत्र में जिन पंक्तियों को समझ नहीं पाता था उन्हें तेल की स्याही फेर कर काला कर देता था। कभी ऐसा भी होता था कि पूरे पृष्ठ में कुछ ही शब्द शेष रह जाते थे।

इस समय जेल में प्रायः दो वर्ष बीत चुके थे। स्थिरता आ गयी थी। हमें स्टेट्समैन या हिन्दी का भारत आदि सरकार का समर्थन करने वाले पत्र ही दिये जाते थे। इन पत्रों में से भी जहां तक जेल अधिकारियों की चौकसी काम देती, क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्बन्ध रखने वाले समाचारों को काट लिया जाता या उन पर स्याही पोत कर अपाठ्य कर दिया जाता था। फिर भी यह मालूम हो गया था कि मेरठ, कानपुर, देहरादून आदि में कुछ हो ही रहा था। पुलिस एक देहरादून-कानपुर षड्यंत्र केस चलाने की व्यवस्था कर रही थी। विश्वास था कि जितना हम जान पाते हैं उससे अधिक ही हो रहा होगा। प्रायः पढ़ते-लिखते रहने और चुप सोचते रहने के समय यह भी ख्याल आता कि जेल में रह कर और जेल में अभी बारह वर्ष और बिताने के बाद रिहा होकर मैं क्या कर सकूंगा; किस योग्य हूँगा। उस समय आयु चालीस से ऊपर होगी। चालीस से अधिक की आयु में जीवन आरम्भ करना होगा। शारीरिक रूप से निष्क्रिय रहने के कारण स्वास्थ्य कुछ ठीक नहीं चल रहा था। जेल से रिहाई के चित्र की कल्पना जीवन के संध्या काल के पट पर ही हो सकती थी। केवल एक ही सम्भावना थी कि मैंने जीवन के लिये जो लक्ष्य स्वीकार किया है उसके प्रति दूसरों को आकर्षित और उत्साहित करता रहूँ, राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष की परम्परा कायम रहे। मेरा साधन केवल कलम ही हो

सकेगा। यह समय उस साधन के लिये साधना करने का है। अपने भविष्य जीवन की कल्पना मैं एक अकेले परिवारहीन व्यक्ति के रूप में ही करता था।

दूर तक कल्पना कर लेने का स्वभाव होने के कारण अपनी प्रौढ़ावस्था के जीवन की कल्पना बहुत ब्यौरे से कर ली थी। पीछे कोई सम्पत्ति या जीविका का साधन न होने के कारण कल्पना थी कि किसी राष्ट्रीय पत्र में वेतन पर काम करूंगा। चालीस पार करके जब काम आरम्भ करूंगा तो उन्नति करके प्रधान सम्पादक बनने का दिन क्या आयगा ? साठ-सत्तर रुपये का उप सम्पादक ही हो सकूंगा। पुस्तकें लिखकर निर्वाह करने की बात नहीं सोची थी। अपने संतोष की चीज़ें नौकरी के काम से पृथक लिखने की कल्पना थी परन्तु अपने जीवन का मार्ग बदल कर विश्राम करने की बात मन में न आयी थी। उस कल्पना का कुछ अंश ठीक ही हुआ। १९३८ में रिहाई के बाद जीविका के लिये पहले कर्मयोगी साप्ताहिक में पचहत्तर रु० मासिक पर नौकरी की थी। यदि संचालक महोदय निबाहने देते तो शायद निबाहता ही रहता पर प्रकाशवती ने भी तो वैराग्य की उस कल्पना को निबाहने नहीं दिया।

अनशन के कुछ ही दिन बाद; जब अभी शरीर में बहुत निर्बलता थी, एक दिन मेरे लिये दफ्तर से बुलावा आया। मेजर भंडारी ने अपने कमरे में बुलाकर कहा कि मुझसे मिलने के लिये कोई व्यक्ति लाहौर से आये हैं। मिलने की आज्ञा इसी शर्त पर दी जा सकती है कि मैं अनशन के बारे में कोई बात न करूं। शर्त बहुत अपमानजनक लगी परन्तु सोचा शायद माता जी किसी तरह अनशन का समाचार पाकर आयी हैं। छः सौ मील का यह सफर उन्होंने किस गरीबी और कठिनाई में किया होगा, उन्हें कितनी निराशा होगी! अनशन तो समाप्त होकर उसका परिणाम भी सामने आ चुका था। उस विषय में बात करने या न करने से क्या होता ? अनशन के सम्बन्ध में बात न करना स्वीकार कर लिया।

मिलने आने वालों के भीतर आने पर देखा कि माता जी नहीं प्रकाशवती थीं। बात हम लोग विशेष कुछ कर नहीं सके क्योंकि भंडारी साहब को समझदारी के कारण पुलिस के एक आदमी को बुलाकर हम लोगों के बीच में ऐसे बैठा दिया गया था कि हमारी कही बातें उसके कानों पर से गुज़र कर ही एक दूसरे तक जा सकती थीं। अनशन के बाद अभी मैं बहुत निर्बल था। यह न बता सकने के कारण कि मेरी शारीरिक दुर्दशा का कारण अनशन था, प्रकाशवती ने समझा कि जेल में मेरे साथ बहुत बुरा व्यवहार किया जा रहा था और जेल में

मेरा स्वास्थ्य ऐसा ही रहता था। मुझसे मिलने के बाद उन्होंने यू०पी० सरकार के तत्कालीन होम मेम्बर सर महाराजसिंह से जाकर शिकायत की और केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा के सदस्यों तक खबर दी। समाचार-पत्रों में भी मेरे स्वास्थ्य के बारे में खूब चर्चा चल पड़ी। अनशन के बाद मुझे ज्वर भी रहने लग गया था।

जेल में प्रकाशवती से मुलाकात होने के बाद उनकी समस्या के बारे में और भी अधिक ध्यान आने लगा। उनकी कई समस्याएँ थी। उनका परिवार रूढ़िवादी था। वे क्रान्तिकारी काम में सहयोग देने के लिये घर छोड़ कर आ गयी थीं। परिवार के लोग उन्हें अपना लेने के लिये कैसे तैयार होते? प्राचीन धारणाओं के अनुसार उनके काम से परिवार पर कलंक लग गया था। हमारा क्रान्तिकारी दल प्रायः बिखर गया था। राजनैतिक परिस्थितियाँ उस समय भी काफ़ी तेज़ी से बदल चुकी थीं। वे क्या करेंगी? एक बड़ी समस्या मेरा जेल में होना भी था। मैं उम्र भर के लिये जेल में था, कम से कम अभी और बारह वर्ष के लिये तो था ही। प्रकाशवती की समस्या का एक समाधान यह हो सकता था कि वे सामाजिक ढंग से किसी भले आदमी से विवाह करके समाज में अपना स्थान बना कर साधारण जीवन आरम्भ कर दें। और जो कर्तव्य समझें उसके लिये भी सामर्थ्य भर यत्न करें।

इस सुलझाव के मार्ग में उनका मुझे पति समझना रुकावट थी। उस समय मैं उनके लिये केवल एक भावना और स्मृतिमात्र ही तो था। मुझे जान पड़ता था कि मेरी याद या मेरे प्रति अनुराग की भावना उनके जीवन के स्वाभाविक और साधारणतः उचित मार्ग में रुकावट बन रही है। मुझे यह बहुत बड़ा अन्याय जान पड़ता था कि मेरे प्रति एक भावुकता-मात्र के लिये उन के या किसी के भी जीवन का स्वाभाविक संतोष निछावर हो जाये। मुझे यह न्याय और नैतिक कर्त्तव्य जान पड़ा कि मैं अपनी ओर से उन्हें ऐसे बंधन से मुक्त कर दूँ। फ़रारी के जीवन में हम दोनों ने एक दूसरे को पति-पत्नी के रूप में स्वीकार किया था परन्तु उस सम्बन्ध पर सामाजिक घोषणा और स्वीकृति की मोहर तो नहीं थी। हम दोनों का उसे माने रहना या उसे भुला देना ही तो एक-मात्र बन्धन था। मेरी स्मृति-मात्र ही उनके जीवन की बाधा क्यों बने?

उपरोक्त विचार मन में आते थे परन्तु पुलिस के अफ़सरों की मौजूदगी में मुलाकात के समय या पुलिस के हाथों से गुज़र कर जाने वाले पत्रों में इस सम्बन्ध में कैसे लिखा जा सकता था। इस विषय में कुछ न कहना अपने

अधिकार को व्यर्थ में जमाये रखने का अन्याय जान पड़ता था। आखिर कुछ ऐसा पत्र लिखा—"जीवन को व्यवहारिक और वास्तविक दृष्टिकोण से ही देखना चाहिये। व्यक्ति का मूल्य उस से समाज या दूसरे व्यक्तियों को प्राप्त होने वाले संतोष और उपयोग से ही होता है। जिस व्यक्ति की उपस्थिति या स्मृति केवल अभाव या निरन्तर दुख का कारण बने उस से मुक्ति पा लेना ही अपने प्रति न्याय है। जो दाँत सदा पीड़ा ही दे उसे निकलवा कर उसकी जगह दूसरा दाँत लगवा लेना ही न्याय और कर्तव्य है। आदि आदि····।" अभी कम से कम बारह वर्ष की जेल सामने थी। बारह वर्ष बाद जेल से छूटकर जैसा जीवन सम्भव जान पड़ता था उसका संकेत प्रसंग से दे चुका हूँ।

शिवराम जी पांडे सत्याग्रह आन्दोलन में शेष कांग्रेसियों की तरह छः ही मास के लिये जेल आये थे। कुछ सज़ा दूसरी जगह काट आये थे। जल्दी ही छूट कर चले गये। मन्मथ गुप्त और रमेश की बदली आगरा सेन्ट्रल जेल में हो गयी। बी० क्लास के एक नैतिक कैदी, यू० पी० के किसी छोटे-मोटे जमींदार अकबर मुहम्मद खाँ को मेरे साथ रहने के लिये भेज दिया गया। मुहम्मद खाँ डकैती या कत्ल के अपराध में उम्र भर की सज़ा पाये था। उस पर उतनी कड़ी निगरानी भी नहीं थी। वह हालें में कुछ ऐसी हरकतें करता था कि हम क्रान्तिकारियों ने बी० क्लास का जो दबदबा कायम किया हुआ था उस पर आँच आती थी। समझाने पर वह मूंछों पर ताव देने लगता—हम क्या तुम्हारे बम, पिस्तौल से डरते हैं? क्रान्तिकारियों के लिये नैतिक कैदियों के साथ (खास तौर पर बी० क्लास के नैतिक कैदियों के साथ) रहना सदा ही संकट का कारण होता था। वे लोग क्रान्तिकारी बन्दियों की झूठी-सच्ची चुगली खाकर या उनसे झगड़ा कर अपनी राजभक्ति प्रमाणित कर के कुछ दया और लिहाज़ पाते रहने की आशा में रहते थे। सी० क्लास के गरीब कैदियों में भी कुछ लोग ऐसे जरूर थे परन्तु ऐसे भी थे जो राजनैतिक कैदियों को आदरणीय मान कर उनके लिये जोखिम उठाने के लिये भी तैयार रहते।

परिस्थितियां कुछ ऐसी हो गयीं कि मन खिन्न रहने लगा। स्वास्थ्य कुछ खराब था और भी खराब हो गया। प्रकाशवती ने बाहर इस विषय में हलचल मचा ही रखी थी। मुझे फतेहगढ़ जेल से सुल्तानपुर के सैनीटोरियम जेल भेज देने का हुक्म हो गया। सुलतानपुर सैनीटोरियम जेल में केवल तपेदिक के मरीज ही भेजे जाते थे। अनुमान किया कि डाक्टर और सुपरिन्टेन्डेन्ट मुझे बताना

उचित नहीं समझते परन्तु उन्हों ने सरकार को सूचना दी होगी कि मुझे तपेदिक हो गया है, तभी तो मुझे वहां भेजा जा रहा है। किसी दिन जेल से छूट जाने की कल्पना भी व्यर्थ ही है इसलिये प्रकाशवती को एक और पत्र लिखा। उसमें व्यंजना से समझाने का यत्न किया कि तुम्हें मुझ से कोई आशा नहीं करनी चाहिये। यह भी प्रकट किया कि मैं पिछले सम्बंधों और जिम्मेवारियों को भूल गया हूँ। यदि जेल से कभी छूट भी गया तो अपने लिये जीवन का कोई नया ही रास्ता और नये ही सम्बन्ध चुन लूंगा। अभिप्राय यही था कि वे अपने को स्वतन्त्र अनुभव कर सकें। माता जी को यही लिखता रहा कि मैं जेल में खूब मज़े में समय काट रहा हूँ और जो नैतिक उपदेश उन्हों ने बचपन में दिये थे उनके अनुसार चलने का प्रयत्न करता हूँ।

जेल की कानूनी सख्तियों के बावजूद कुछ दिन बाद जेल के कर्मचारियों का व्यवहार सहानुभूति का हो ही जाता था। सुल्तानपुर के लिये मेरा चालान किया जाने से आठ-दस दिन पहले ही मुझे उसकी सूचना मिल गयी थी। जेल के एक कर्मचारी से अनुरोध किया कि वह कानपुर में 'प्रताप' के पते से बालकृष्ण जी शर्मा नवीन को सूचना दे दे कि मैं अमुक तारीख को कानपुर स्टेशन से होकर सुल्तानपुर जाऊँगा। सम्भव हो तो मुझ से स्टेशन पर मिल लें। फतेहगढ़ से मेरा चालान भी कुछ अजीब-सी परिस्थिति में हुआ। मुझे इतना बीमार समझा गया कि जेल में बिस्तर से फाटक तक भी चलना मना था। एक स्ट्रेचर पर उठा कर पहुँचाया गया। सफर में भी स्ट्रेचर साथ रहा कि गाड़ी बदलते समय पैदल न चलना पड़े और ऐसे ही सुल्तानपुर में रेल से सवारी तक भी पैदल न चलूं लेकिन पांवों में भारी-भारी बेड़ियाँ भी जरूर डाल दी गयीं।

बालकृष्ण जी शर्मा नवीन से मेरी उस समय तक कभी देखा-सुनी या व्यक्तिगत परिचय नहीं था। परन्तु मेरा सन्देश पाकर वे स्टेशन पर आये। पुलिस की गारद से घिरे बीमार कैदी को पहचान लेना कोई बड़ी बात नहीं थी। वे इतनी आत्मीयता और सहृदयता से मिले मानों सगे से अधिक अपने हों। उनके शब्द भी अभी तक याद हैं:—"My whole heart goes to you." इस आत्मीयता का आधार उनका क्रांतिकारियों में विश्वास था जिसका श्रेय उनके भगतसिंह और आज़ाद से परिचय को ही दिया जा सकता था। उन्हों ने पूछा भी—"मैं तुम्हारे लिये क्या कर सकता हूँ?"...किसी चीज़ की

आवश्यकता हो तो कहो।" उन्हें प्रकाशवती का पता देकर अपनी बदली हो जाने की सूचना दे देने के लिये कहा।

उन दिनों सुल्तानपुर सैनीटोरियम जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट (तपेदिक के विशेषज्ञ) डाक्टर शंकरलाल गुप्ता थे। डा० गुप्ता अफ़सर कम और डाक्टर अधिक थे। जेलों के अधिकांश डाक्टरों का व्यवहार इससे ठीक उलटा होता है। डा० गुप्ता ने खूब अच्छी तरह ठोंक-बजाकर और जाँच-पड़ताल करके मेरे शरीर की परीक्षा की और विश्वास दिलाया—"आप को तपेदिक हरगिज़ नहीं है। पुराना ज्वर है। मन की चिंताएँ छोड़िये। यहाँ जेल में ऐसा कोई काम न कीजिये कि मुझ पर कोई बात आये और जो चाहे कीजिये।" डा० गुप्ता को साहित्य का भी खूब शौक था। उन्हों ने अनेक पुस्तकें पढ़ने के लिये दीं। उन्हें फूलों और बागबानी में भी बहुत रुचि थी। उनके शौक के कारण सुल्तानपुर जेल में अनेक तरह के गुलाबों और दूसरे फूलों का सुव्यवस्थित जंगल सा बना हुआ था। जिधर देखिये फूल। उनका प्रयत्न यही रहता था कि कैदी सुल्तानपुर जेल को हस्पताल ही समझें। जल्दी ही स्वास्थ्य सुधरने लगा।

मेरे सुल्तानपुर तपेदिक जेल में भेज दिये जाने के समाचार से प्रकाशवती बहुत घबरायीं। जल्दी-जल्दी मिलने आने लगीं। मिलने आना आसान इस-लिये भी हो गया था कि गिरफ्तारी के बाद उन्हें सरकार ने देहली और लाहौर में एक वर्ष तक न रहने का नोटिस दे दिया था। वे समय का सदुपयोग कर सकने के लिये बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में आकर पढ़ने लगी थीं। बनारस से सुल्तानपुर कुछ घंटे की ही रेल-यात्रा थी। प्रायः पाँच-छः मास बाद, मेरे स्वस्थ हो जाने पर मुझे सुल्तानपुर से बरेली केन्द्रीय जेल में भेज दिया गया।

बरेली केन्द्रीय जेल में सन् १९३५ और १९३६ बीते। जेल का जीवन प्रायः ही एक रस रहता है परन्तु यहाँ भी कुछ घटनाएँ हुईं। बरेली जेल में आते ही मेजर रोज़ेयर से वास्ता पड़ा। मेजर रोज़ेयर एँग्लोइंडियन था। उसे योरुपियन समझे जाने और अपने रोब का बहुत खयाल रहता था। दूसरे समझदार सुपरिन्टेन्डेन्टों का कायदा दूसरा था। वे प्रायः ही क्रान्तिकारी बन्दियों के हाते में न जाते। न अधिक सामना होता न उनके रोब और हम लोगों के आत्मसम्मान की भावना में रगड़ होती। रोज़ेयर यह दिखाना चाहता था कि उसके बारक में आने पर हमें भी खड़े हो जाना पड़ता है। इसके इलावा जेल के श्रम के सम्बन्ध में बेमतलब नोक-झोंक, काम क्यों नहीं किया? ये क्या है? वह क्या है? जेल का कानून तो सदा ही अधिकारियों के पक्ष में

रहता था। यों रोज़ेयर मन का बुरा नहीं था। प्रतीक्षा में रहता था कि हम लोग विनय दिखायें तो वह भी कुछ लिहाज़ करे, उसकी प्रभुता और अधिकार का प्रदर्शन हो सके। रोज़ेयर के व्यवहार से मन में सदा ही एक कचोट सी अनुभव होती रहती थी, विशेष कर जेल के श्रम के बारे में।

एक दिन बदला लेने का निश्चय कर लिया। पाक्षिक परेड का दिन था। रोज़ेयर अपने अमले के साथ बारक में पधारे। सब लोगों को सुनाकर उन्होंने उपदेश देना आरम्भ किया—"श्रम करने में मानहानि समझना गलती है। हम भी तो दिन भर श्रम करते हैं। जेल के नियमों का पूरा पालन होना चाहिये। एम० एन० राय भी इस जेल में रह गये हैं। वे हमेशा अपना श्रम पूरा करते थे....।"

बात करते-करते रोज़ेयर ने अपना जूता पहरा पांव मेरे पलंग के पैताने तहाकर रखे हुए कम्बल पर रख दिया। इतना तो मैं भी समझता था कि योरुपियन आचार-व्यवहार के अनुसार ऐसा करना अशिष्टता नहीं समझी जाती पर मुझे अवसर मिल गया। अपनी जगह से आगे बढ़ मैंने कम्बल को पलंग से उठाकर फेंक दिया और बहुत क्रोध दिखाया—"मैं इस कम्बल को लेकर सोता हूँ, तुम उस पर जूता रख कर मेरा अपमान करते हो?"

सारे जेल के अमले की आँखें विस्मय में फैल गयीं। रोज़ेयर का चेहरा भी कागज़ की तरह पीला हो गया। इस भयंकर अपमान से तड़पकर बोला—"अच्छा, अच्छा तुम्हें इसकी उचित सज़ा मिलेगी!" और पांव पटकता बारक से लौट गया। उस दिन साहब के लिये जेल के निरीक्षण की परेड पूरी करना कठिन हो गया। यही सोचता रहा कि सब के सामने हो गये अपमान का क्या उपाय करे। मैं स्वयं भी सोच रहा था कि यह आदमी चिढ़कर जाने क्या बदला ले पर अब तो कदम उठ ही चुका था।

घण्टे भर बाद रपट बढ़ी कि साहब फिर हमारी बारक में आ रहे हैं। सोचा, इस बार बदला लेने ही आ रहा है। पर साहब भीतर आया तो मुस्करा रहा था। बोला—"तुम्हारे स्वास्थ्य की परीक्षा करना चाहता हूँ।"

डाक्टर के साथ एक जमादार रक्तचाप की परीक्षा का यंत्र लिये था। मुझे लिटा दिया गया। खूब परीक्षा की गयी और रोज़ेयर साहब ने घोषणा कर दी कि मेरा रक्तचाप बहुत कम है इसलिये मेरा बौखला उठना कोई विस्मय की बात नहीं। मैं क्या खाता-पीता हूँ? मुझे भोजन ठीक से मिलता है या नहीं;

बहुत लम्बी तहकीकात हुई। रोज़ेयर ने विज्ञ डाक्टर की हैसियत से समझाया—"रक्तचाप नीचा होना कोई बहुत आशंका की बात तो नहीं, वैसे जार्ज पंचम की मृत्यु इसी रोग से हुई थी।" खैर रोज की नोक-झोंक से छुट्टी मिली।

बरेली जेल में चन्द्रसिंह गढ़वाली से परिचय हुआ। १९३० में पेशावर में जिस गढ़वाली पल्टन ने सरकारी हुक्म से जनता पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया था, चन्द्रसिंह उस पल्टन में हवलदार थे। गोली चलाने का हुक्म मिलने पर इन्हों ने ही आगे बढ़कर आज्ञा का विरोध किया था। इनके साथ ही इनके एक और साथी भी थे। दोनों सज्जन पांच-पांच, छः-छः साल जेल में काट चुके थे और अब साधारण कैदी अफसर बन गये थे और जेल के भीतर घूम फिर सकते थे। प्रायः ही मिलने आते रहते। उन दिनों वे देशसुधार के विचार से कैदियों में आर्य समाज का प्रचार या कहिये मिथ्या संस्कारों से मुक्त होने का प्रचार किया करते थे। कांग्रेसी स्वराज्य की मांग का समर्थन तो करते ही थे। मैंने उन्हें अपने दल का या समाजवादी दृष्टिकोण समझाना शुरु किया। बात उन्हें जंचने भी लगी। वे मुझे 'गुरु' सम्बोधन करने लगे और मैं उन्हें 'बड़े भाई!' बरेली जेल में उस समय चौरीचौरा केस के भी बंदी थे। चौरीचौरा की घटना निर्विवाद रूप से राजनैतिक थी परन्तु उन लोगों को बी० क्लास दिलाने का प्रयत्न कांग्रेस वालों ने कभी नहीं किया। वे लोग भी मुझ से मिलने या सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न करते ही रहते थे।

मेजर रोज़ेयर की बदली हो गयी और उनकी जगह आ गये मेजर मल्होत्रा। मेजर मल्होत्रा भले आदमी थे, कुछ गोला किस्म के। स्वभाव से तो दयालु और भावुक थे परन्तु रोब और अंग्रेज़ भक्ति दिखाने के लिये खामुखा सख्ती का दम्भ करते रहते थे पर वह बहुत निबहता नहीं था। साधारणतः लोगों को दयालुता या सौजन्य का दम्भ करते देखा जाता है। यह भी एक अच्छा विद्रूप था कि जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट अपनी सज्जनता छिपा कर निर्दयता दिखाते थे। उन दिनों बरेली जेल में हैड जेलर एक एंग्लोइंडियन, विलियम्स था। बहुत कमीना और स्वभाव का चुगलखोर। वह अंग्रेज़ गवर्नर या वायसराय को अपने सगे मामा से कम नहीं समझता था। प्रायः ही हम लोगों से पूछता, तुम्हारी आयु क्या है? जन्म की तिथि कौन है? और फिर बताता—"शहंशाह एडवर्ड सप्तम की और मेरी जन्मतिथि एक ही है।" मानो लगभग उन्हीं वंश का वो हो। मेजर मल्होत्रा को यह आशंका भी रहती होगी कि यह आदमी

कहीं गुप्त रिपोर्ट न कर दे कि वे क्रान्तिकारी राजनैतिक बन्दियों से सहानुभूति रखते हैं इसलिये वे बेमतलब कुछ न कुछ नोक-झोंक करते रहना आवश्यक समझते थे।

जेल में विवाह

एक दिन बारक बन्द हो जाने के बाद मेजर मल्होत्रा हमारी बारक की ओर चले आये। जेलर विलियम्स तो साथ नहीं था पर जेल के दो शरीर रक्षक जमादार ही साथ थे। अंग्रेज़ी में हाल-चाल पूछ कर पंजाबी में बोले—"यह तो बताओ मिस प्रकाशवती कपूर कौन है ? तुम जानते हो ?"

"कहिये, क्या बात है ?"—मैंने उल्टे प्रश्न किया।

बोले—"अभी किसी से जिक्र करने की ज़रूरत नहीं है। मिस प्रकाशवती कपूर ने डिप्टी कमिश्नर की मार्फत दरखास्त दी है कि वह तुम से जेल में ही विवाह करना चाहती है।....." कहते-कहते भावुकता में आ गये—"मैं यह सोचता रहा कि तुम्हें तो अभी दस-ग्यारह साल जेल में रहना है—भगवान करे तुम छूट जाओ तो अच्छा ही है—पर इस लड़की का त्याग देखो ! त्याग और धर्म की ऐसी भावना हिन्दू नारी के अतिरिक्त संसार में कहीं सम्भव नहीं है। मैं मानता हूँ कि तुम भी असाधारण देशभक्त और वीर आदमी हो, तुम ने अपना जीवन देश के लिये बलिदान किया है, तुम्हारी गिरफ्तारी के समय मैं बड़े ध्यान से पत्रों में सब समाचार पढ़ता रहता था। मैं नेहरू परिवार के लोगों—"विजयलक्ष्मी और श्यामकुमारी को भी जानता हूँ पर मैं सोचता हूँ इस लड़की को तुमसे शादी करने से मिलेगा क्या ? उसका तो यह असाधारण त्याग आदर्श है ! हिन्दू धर्म और हिन्दुस्तान आज भी जो मर नहीं गया सो ऐसी ही देवियों के धर्म और आचारबल पर ? मुझे तो यही संतोष है कि मुझे ऐसी देवी के दर्शन करने का अवसर मिलेगा।" इस बात का मैं क्या उत्तर देता।

अगले दिन डिप्टी कमिश्नर के यहाँ से आया सरकारी पत्र मुझे दिखाया गया—"लाहौर निवासी मिस प्रकाशवती कपूर बरेली केन्द्रीय जेल में बन्द आतंकवादी कैदी यशपाल से विवाह करना चाहती है। कैदी यशपाल विवाह करना चाहता है या नहीं ?" मैंने लिख कर हामी भर ली और विवाह के लिये अगस्त की सात तारीख निश्चय हो गयी।

प्रकाशवती (१९३५)

कुछ दिन पहले रमेश गुप्त की बदली होकर बरेली आ गया था। उसे बड़ा उत्साह हो रहा था कि भैया की शादी हो रही है। जेल में जो भी सुनता हैरान होता कि कैदी की शादी हो रही है। ऐसा अभी तक देश की किसी भी जेल में सुना भी नहीं गया था। कुछ का अनुमान था, शादी हो रही है तो कुछ दिन घर हो आने की छुट्टी भी मिल सकेगी।

विवाह के लिये निश्चित तारीख के दिन सुबह आठेक बजे दफ्तर से बुलावा आया। कारण तो पहले से ही मालूम था। जेल से मिले सफेद दुसूती के कोट, पेंट पहले से धुलाकर और स्त्री कराकर रखे हुए थे। उन्हें पहन कर चल दिया। शादी के लिये डिप्टी कमिश्नर की अदालत में जाना था। दफ्तर में पहुँचने पर आदेश मिला कि बेड़ियाँ पहन लूं।

"क्यों ?"—मैंने विस्मय प्रकट किया।

"जेल के बाहर जा रहे हो। बेड़ियाँ पहनाई जाती हैं।"—उत्तर मिला।

"पर मैं तो शादी के लिये जा रहा हूँ। बेड़ियाँ पहन कर शादी कराई जाती है ? बेड़ियाँ पहन कर शादी के लिये मैं नहीं जाऊँगा। शादी हो या न हो।"

मुझे अदालत में ले जाने के लिये सिपाही लेकर आया हुआ सबइन्स्पेक्टर मुझे बेड़ियाँ बिना पहनाये बाहर ले जाने की जोखिम उठाने के लिये तैयार नहीं था।

जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट परेशानी में पड़ गये। उन्होंने पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट को फ़ोन किया कि तुम्हारे आदमी कैदी को बेड़ियाँ पहनाये बिना ले जाने के लिये तैयार नहीं और कैदी बेड़ियाँ पहन कर शादी कराने जाने के लिये तैयार नहीं। पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट ने भी मुझे बिना बेड़ियाँ पहनाये जेल से बाहर ले जाने की जिम्मेवारी लेना स्वीकार नहीं किया। मैंने शादी के लिये बेड़ियाँ पहनने से क़तई इन्कार कर दिया। जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट ने डिप्टी कमिश्नर को टेलीफ़ोन कर कठिन परिस्थिति की सूचना दी।

डिप्टी कमिश्नर मि० पैडले संकट में पड़ गये। उनके पत्र के आधार पर प्रकाशवती, मेरी माता और शादी के लिये दो और गवाहों को लेकर उनकी अदालत में पहुंची हुई थीं। डिप्टी कमिश्नर ने मेजर मल्होत्रा को उत्तर दिया—"पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट और कैदी दोनों की ही बात ठीक है। मैं दुल्हन को लेकर जेल में आ रहा हूं वहीं ही विवाह होगा।"

अवसरवश उस दिन बरेली में एक ओरे संकट था। किसी कारण ताँगों, इक्कों की हड़ताल थी। शहर कांग्रेस के प्रधान संतसिंहजी ने मेरी माता, प्रकाशवती और उनके साथ आये हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस के मैनेजर देवीप्रसाद जी शर्मा और श्रीकृष्ण सूरी को डिप्टी कमिश्नर की अदालत में तो पहुँचा दिया था अब उन्हें जेल तक पहुँचाने की व्यवस्था क्या करते ? मि०पैडले ने इसका भी उपाय किया। माता जी और प्रकाशवती को तो वे अपनी कार में ले आये। शर्मा जी और सूरी को भी किसी भद्र पुरुष की गाड़ी मिल गयी। प्रकाशवती और माता जी के डिप्टी कमिश्नर की गाड़ी में, उसके साथ ही आने से एक गलतफहमी पैदा हो गयी। यह बात जरा ठहर कर।

मि० पैडले ने आज्ञा दी कि विवाह के अवसर के लिये जेल के दफ्तर को अदालत समझ लिया जाये। सिविल मैरेज या अदालती विवाह की कार्रवाही शुरू हुई। वर और वधू को जो जो प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ती हैं, हम लोगों ने कीं। पुरोहित के रूप में डिप्टी कमिश्नर के पूछने पर प्रकाशवती ने अपने आपको सनातनधर्मी हिन्दू बता दिया परन्तु मैंने अपना धर्म बताया— रैशनलिज़्म। हिन्दी में इस शब्द का अनुवाद बुद्धिवाद ही हो सकता है।

मि० पैडले बोले—"यह नया इज़्म (वाद) तो कभी सुना नहीं। नास्तिक लिख दूँ या बौद्ध लिख दूँ ?"

"नहीं जो मैं कहता हूँ वही लिखिये"—मैंने आग्रह किया।

साहब ने चिढ़ कर वही लिख दिया और उन्हों ने अपनी अदालती फ़ीस सवा रुपया मांग ली। देवीप्रसाद शर्मा और सूरी ने प्रकाशवती की ओर से गवाही में हस्ताक्षर किये। मेरी ओर से गवाही में रमेशचन्द्र गुप्त और मेजर मल्होत्रा ने हस्ताक्षर किये। सूरी पांच-छः सेर मिठाई भी ले आये थे, सो बांटी गयी। जो काम जेल में कभी नहीं हुआ था वह हो गया। विवाह की खुशी में मेजर मल्होत्रा ने मुझे माता जी, प्रकाशवती, शर्मा और सूरी के साथ एक घंटे तक बातचीत करने का अवसर दे दिया। उसके बाद वे लोग जेल फाटक के बाहर और मैं भीतर की ओर चला गया।

विवाह के दूसरे-तीसरे दिन ही दूसरे हाते में रहने वाले सी० क्लास के राजनैतिक और चौरीचौरा के मामले के बन्दियों का एक पेंसिल से लिखा पूरे ताव का गुप्त पत्र मिला। इस पत्र में उन्होंने अपने एक क्रान्तिकारी नेता के नैतिक पतन पर शोक प्रकट कर क्रान्तिकारियों का नाम कलंकित न करने की

अपील की थी । पत्र का अभिप्राय था कि मैंने जेल से मुक्ति पाने के लिये अंग्रेज़ डिप्टी कमिश्नर की लड़की से विवाह कर लिया है । बहुत से राजनैतिक कैदी तो सी० क्लास में उम्र कैद काट रहे हैं । मैं तो बी० क्लास की सुविधाएँ पा रहा हूँ । क्या मैं इतना भी नहीं सह सकता ? इत्यादि इत्यदि ।

जेल के भिन्न-भिन्न भागों और हातों में घूमने वाले कैदी जमादारों से सुना कि जेल में अफ़वाह थी कि डिप्टी कमिश्नर साहब अपनी लड़की को साड़ी पहना कर मोटर में लाये और बी० क्लास वाले साहब से (अर्थात् मुझ से) ब्याह कर गये । अब साहब जेल से छूट जायँगे । साहब और सरकार में सुलह हो गयी । इस भ्रान्ति या कल्पना का कारण टाँगा-हड़ताल के कारण प्रकाशवती का डिप्टी कमिश्नर की मोटर में आना ही था । पंजाबी लड़कियों का रंग यों भी काफ़ी गोरा होता है । तिस पर ब्याह की तैयारी में कुछ पाउडर भी पोता ही होगा । वे अंग्रेज़ की बेटी समझ ली गयीं । जेल में रोमांचकारी अफ़वाहें उड़ाने से कैदियों को संतोष भी खूब मिलता है । जीवन में स्फूर्ति और वैचित्र्य अनुभव करने का यही तो एकमात्र साधन उनके हाथ में रहता है। पत्र लिखने वाले लोगों को भी जितनी भी सही बात बतायी जा सकती थी, बताकर उनका भ्रम और आशंका दूर करने की चेष्टा की । जेल में विवाह होना नयी बात थी । इसलिये सभी अखबारों ने 'स्टेट्समैन' आदि ने भी इस समाचार को महत्व देकर मोटे अक्षरों में प्रकाशित किया ।

जेल में विवाह हो जाने के समाचार से—चाहे वह खुश्क दफ्तरी ढंग से ही सम्पन्न हुआ हो—सरकार की दृष्टि में जेल के वातावरण की रुद्र गम्भीरता का आतंक टूट-सा गया । सचिवालय से जाँच-पड़ताल के कागज दौड़ने लगे कि यह नयी बात क्यों और कैसे हो गयी । मेजर मल्होत्रा ने एक रोज़ बताया कि उनसे पूछ-ताछ होने पर उन्होंने निधड़क उत्तर दे दिया—"विवाह डिप्टी कमिश्नर की स्वीकृति और आज्ञा से हुआ । जेल के जिस मकान में विवाह-सम्पन्न हुआ वह उस समय डिप्टी कमिश्नर की आज्ञा से अदालत में परिणित कर दिया गया था और जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट के नियन्त्रण में नहीं डिप्टी कमिश्नर के नियन्त्रण में था । जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट वहाँ दर्शक और गवाह की स्थिति में मौजूद था । जेल मैनुअल में कैदियों के विवाह के सम्बन्ध में स्वीकृति अथवा निषेध का कोई संकेत नहीं है इसलिये जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट ने निर्णय डिप्टी कमिश्नर के हाथ में छोड़ दिया था । इस विषय में जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट का कोई उत्तरदायित्व नहीं ।"

बात यहीं नहीं रह गयी। डिप्टी कमिश्नर पैडले से जवाब माँगा गया कि जेल में कैदी के विवाह की स्वीकृ ति उन्हों ने कैसे दे दी। अंग्रेज़ अफ़सर भारतीय अफ़सरों की तरह दब्बू नहीं होते थे। पैडले का उत्तर था—विधान अथवा परम्परा में कैदियों के विवाह या जेल में विवाह के सम्बन्ध में कहीं कोई निर्देश नहीं है। मिस प्रकाशवती ने विवाह के लिये दरखास्त दी, उस में कोई ग़ैर कानूनी बात नहीं थी। उसकी इच्छा-पूर्ति में बाधा डालने का मेरे पास कोई कारण नहीं था इसलिये मैंने स्वीकृति देना ही उचित समझा। इतने पर भी विवाह की प्रतिक्रिया में आरम्भ हुई हलचल समाप्त नहीं हुई।

कुछ मास बाद उत्तर प्रदेश की सरकार के तत्कालीन गृह-सदस्य (होम-मेम्बर) सर महाराजसिंह बरेली जेल का निरीक्षण करने आये। मुझे भी उनके दर्शन का सौभाग्य हुआ। मेरा परिचय पाकर बोले—"तुम्हें जेल में रखकर कोई न कोई मुसीबत होती ही रहनी चाहिये। जेल में शादी करके तुम्हें क्या फ़ायदा हो गया? हमारे लिये एक समस्या ज़रूर खड़ी कर दी।" उन्हें उत्तर दिया—"आप स्वयं देख रहे हैं कि मुझे कोई फायदा नहीं हुआ। मैं तो आप की सरकार के पिंजरे में बन्द हूँ। जो कुछ हुआ आप की सरकार और अफ़सरों की अनुमति से हुआ।

महाराजसिंह बोले—"हुआ यह कि हमें जेल मैनुअल में एक और धारा बढ़ानी पड़ गयी कि जेल में कैदियों का विवाह नहीं हो सकता।"

मैं मुस्करा दिया—"चलिये एक ऐसी बात हो गई जो कभी नहीं हुई थी और हो भी नहीं सकेगी।"

जेल में मेरे विवाह से उस समय चाहे कोई लाभ न हुआ हो यह घटना अंग्रेज़ी शासन की जाप्तेदारी का अच्छा उदाहरण बन गयी।

नैनी जेल में समारोह

१६३३ और १६३४ में गांधी जी ने कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में और अपने कुछ चुने हुए सत्याग्रही साथियों को लेकर सत्याग्रह के शस्त्र को खूब आजमाया। बम्बई में १६३४ अक्तूबर के कांग्रेस अधिवेशन में गांधी जी ने अपनी नीति और अपने कार्यक्रम की असफलता का एक नया आध्यात्मिक कारण बता दिया। उन्हों ने कहा कि सत्याग्रह का आध्यात्मिक संदेश जनता तक प्रचार के आधुनिक, अपवित्र मशीनी साधनों द्वारा पहुँचने से निर्बल हो जाता है। कांग्रेस के नेता चुनावों की वैधानिक लड़ाई में ही विश्वास रखते

थे। चुनाव न लड़ कर अंग्रेज़ी सरकार से मोर्चा लेने पर आंदोलन का रूप अवैधानिक और गांधी जी की दृष्टि में हिंसात्मक हुए बिना नहीं रह सकता था। आंदोलन को वैधानिक और अहिंसा की सीमाओं में सीमित रखने का उपाय उसे चुनाव के क्षेत्र में ले आना ही था। गांधी जी और पटेल आदि कांग्रेस के नेताओं में एक समझौता हुआ। गांधी जी ने कांग्रेस की सदस्यता छोड़ दी। नेताओं ने अनुकूल अवसर आने पर गांधी जी को अपना डिक्टेटर बना कर आंदोलन चलाने का निश्चय किया। तब तक चुनावों की वैधानिक लड़ाई का ही कार्यक्रम रहा। १६३५ के नये कानून के अनुसार विधान सभाओं के और निर्वाचित मंत्रियों के अधिकार भी काफ़ी बढ़ा दिये गये थे परन्तु गवर्नरों और वायसराय को उनके काम में दख़ल देने का काफ़ी अवसर था। इस पर भी कांग्रेस ने चुनाव लड़े। जनमत कांग्रेस के साथ था। विधान सभाओं में उनकी बहुत बड़ी संख्या पहुँची।

नये कानून और चुनाव के अनुसार मंत्री मंडल बनाने का अवसर आया। कांग्रेस की यह मांग थी कि गवर्नर और वायसराय इस बात का आश्वासन दें कि वे मंत्री मंडलों के कामों में कम से कम दखलन्दाजी करेंगे। जब तक यह आश्वासन न मिले कांग्रेसी मंत्री मंडल न बने परन्तु विधान सभा में कांग्रेस की मांगों की अवहेलना नहीं की जा सकती थी। वे जिस समय भी जिस प्रश्न पर चाहते सरकार के विरुद्ध अविश्वास या निन्दा का प्रस्ताव पास कर ही सकते थे। उसका प्रभाव शासन और जेलों में व्यवस्था और व्यवहार पर भी पड़ा। क्रान्तिकारी कैदियों की यह पुरानी मांग थी कि ऐसे सब बन्दियों को एक किसी जेल में एक साथ रखा जाये। १६३७ फरवरी या मार्च के दिन थे। एक दिन समाचार मिला कि मेरी और रमेशचन्द्र गुप्त की बदली नैनी केन्द्रीय जेल में हो रही है। वहां सभी क्रान्तिकारी बन्दियों को एक साथ रखा जायगा।

हम दोनों नैनी के स्टेशन से पुलकते हुए हृदय से नैनी जेल पहुँचे। क्रान्तिकारी दल के कई बड़े-बड़े नेताओं, शचीन्द्रनाथ सान्याल और जोगेशचन्द्र चेटर्जी आदि के नाम हम लोगों ने सुने थे। मुलाकात का अवसर कभी नहीं आया था। उन्हें कभी देख न पाने पर भी उनके प्रति हम लोगों में बहुत श्रद्धा थी। सशस्त्र क्रान्ति की प्रेरणा और उत्साह पाने में इन लोगों की कहानियों ने हम पर बहुत प्रभाव डाला था। सान्याल दादा की पुस्तक 'बन्दी जीवन' तो हम लोगों के लिये प्रारम्भिक पाठ्य पुस्तक सी रही थी।

एक खूब बड़े हाते में दो बड़ी बारकें थीं। जिस समय रमेश और मैं इस हाते में पहुँचे, सब सुनसान था। हमीं सबसे पहले आ पहुँचे थे। बाद में एक एक, दो-दो व्यक्ति एक-एक दो-दो दिन के अंतर से आने लगे और बारक भर गयी। शचीन्द्र सान्याल, जोगेश चैटर्जी, शचीन्द्र बख्शी, मन्मथ गुप्त, मुकुन्दीलाल तो काकोरी के मामले के थे इसके अतिरिक्त सुशिलकुमार राय, शम्भुनाथ, रमेश गुप्त, बलराज और शिवराजसिंह आदि बाद के दूसरे मामलों के, राजेन्द्र निगम, काशीराम, और मैं हि०स०प्र०स० के मामलों के बन्दी थे। इसके अतिरिक्त शिवसिंह और कानपुर की मजदूर सभा का एक कार्यकर्ता बैनर्जी भी था। अच्छी खासी रौनक हो गयी।

इस जमघट में अनेक अनुभवी लोग थे। जानते थे कि बहुत से राजनैतिक या क्रान्तिकारी बन्दियों के एक साथ रहने से जहां अपनी संगठित शक्ति द्वारा जेल अधिकारियों का मुकाबला करने का अवसर रहता है वहां जरा-जरा सी बात पर आपसी स्पर्धा के फूट पड़ने की भी काफी आशंका रहती है। अपने समय को जहां तक सम्भव हो खाली नहीं रहने देना चाहिये। संयुक्त अध्ययन की व्यवस्था की गयी और यह अनुशासन भी बना लिया गया कि हम में से कोई भी बन्दी जेल अधिकारियों से किसी भी किस्म का व्यक्तिगत सम्बन्ध न बनाये या व्यक्तिगत रूप से कोई मांग आदि न करे। सब बातें पूरी बारक की ओर से संयुक्त रूप से हों। बारक से एक स्पोकसमैन या प्रवक्ता चुन लिया जाये। बारक के प्रवक्ता का काम सौंपा गया मुझे। किसी भी समाज के प्रवक्ता को थोड़ी बहुत पंचायत भी करनी ही पड़ेगी। ऐसे सब महारथियों के समुदाय की पंचायत और प्रवक्तापन निबाहना विनोद-मात्र तो हो नहीं सकता था। उसे उन्हीं के सहयोग से ही निबाहा जा सकता था।

मुझसे कहीं अधिक अनुभवी साथियों के बारक में रहते यह अहंकार कर लेने का कोई आधार नहीं था कि मैं सब से विज्ञ अथवा बुद्धिमान हूँ इसलिये मुझे प्रवक्ता मान लिया गया है। यह सब विशेष परिस्थितियों के ही कारण था। सान्याल दादा बंगाल के अनुशीलन क्रान्तिकारी दल के प्रतिनिधि थे और जोगेश दादा युगान्तर क्रान्तिकारी दल के। इन दोनों दलों की प्रतिद्वन्द्विता प्रख्यात रही है। उसका प्रभाव इन दोनों नेताओं के व्यक्तिगत भावों और व्यवहार में भी आ ही गया था। इसके अतिरिक्त दार्शनिक और राजनैतिक आदर्शों का भेद भी था।

सान्याल दादा आध्यात्मवादी आदर्शों में विश्वास रखते थे। उनके आध्यात्मवाद का गांधीवाद के स्थूल और भक्तिवादी आध्यात्म से कोई सम्बन्ध नहीं था। वे अरविन्द के अनुयायी थे। उसी विचारधारा के आधार पर वे भारत के लिये आध्यात्म-निर्देशित प्रजातन्त्र शासन की कल्पना करते थे। जोगेश दादा का आदर्श कुछ तो पहले ही से, कुछ जेल के स्वाध्याय और मनन से मार्क्सवादी हो चुका था। शेष लोगों में और कोई भी आध्यात्मवाद या आदर्शवाद में आस्था रखने वाला नहीं रहा था। हम लोगों के एक साथ रहने पर विचारों और सिद्धान्तों के विलोडन और छानबीन का खूब अवसर आता और नयी-नयी पुस्तकें पढ़ने की प्रवृत्ति भी होती। हम लोग साहित्यिक दृष्टिकोण से भी गोष्ठियाँ और विचार परिवर्तन करते रहते थे। साथियों के अनुरोध पर यहाँ मैंने फतेहगढ़ जेल में लिखी अपनी कुछ कहानियाँ सुनाईं। सान्याल दादा, जोगेश दादा, बख्शी और मन्मथ आदि ने उनकी जो प्रशंसा की उससे मेरा उत्साह और आत्म-विश्वास खूब बढ़ा। फतेहगढ़ जेल में भी मैं और मन्मथ साहित्यिक चर्चा किया करते थे। मन्मथ तब भी बंगला में कविता, कहानी आदि लिखते रहते थे और मैं हिन्दी में। एक बार मन्मथ का ध्यान मैंने अनातोल फ्रांस की एक पुस्तक से एक बहुत ही सुन्दर पैरे की ओर आकर्षित किया। पुस्तक फ्रेंच में थी। मन्मथ ने शैली और विषय-वस्तु की बहुत सराहना कर कहा—"इससे अच्छा लिखा ही नहीं जा सकता।"

मैंने सुझाव दिया—"पर इसी भाव को हिन्दी या बंगला में ऐसे ही लिखा जा सकना चाहिये।" मन्मथ ने चुनौती दे दी—"असम्भव। अनुवाद इतना अच्छा कभी हो ही नहीं सकेगा। अनुवाद तो अनुवाद।"

मैं चुपचाप उस अंश का अनुवाद करने लगा। कुछ समय बाद मन्मथ से अनुरोध किया—"मौलिक फ्रेंच से वह पैरा एक बार फिर पढ़ो। मेरा किया अनुवाद भी देखो। त्रुटि कहाँ है, फिर यत्न किया जाये।" मन्मथ ने परीक्षक की उत्सुकता से मौलिक और अनुवाद को कई बार पढ़ा और फिर बहुत स्पष्टता से कहा—"मैं मानता हूँ अनुवाद मौलिक से भी अधिक सरस हो गया है।" इस तरह की बातों से अभ्यास और आत्म-विश्वास बढ़ता रहता था।

चुनावों में कांग्रेस की भारी सफलता के बाद कांग्रेस के मन्त्री पद स्वीकार कर लेने की सम्भावना को ध्यान में रख कर निकट भविष्य में हम लोगों के जेल से छूट जाने की कल्पना अब दुराशामात्र नहीं कही जा सकती थी। उस समय हम सभी लोगों का विचार था कि जेल से छूट कर हम लोग फिर अपने

लक्ष्य की प्राप्ति के लिये काम करेंगे इसलिये हम लोगों के इकट्ठे हो जाने पर लक्ष्य के स्पष्टीकरण का प्रश्न उठता ही था। काकोरी के साथियों की गिरफ्तारी के बाद फिर से दल का संगठन करते समय भगतसिंह और दल के तत्कालीन नेताओं ने दल के नाम में समाजवादी शब्द जोड़ दिया था, वह निष्प्रयोजन तो था नहीं। नैनी सेन्ट्रल जेल में इकट्ठे हुए सब साथियों में से केवल सान्याल दादा को ही यह नया शब्द जोड़ा जाना बहुत उपयोगी नहीं जान पड़ता था। सान्याल दादा को भी समाजवाद की भावना से या समाजवाद के सामाजिक और आर्थिक पक्ष से विरोध नहीं था। उन्हें विरोध था केवल समाजवादी दर्शन के नितान्त भौतिक आधार से। वे भारत के आध्यात्मनिष्ठ समाजवाद का प्रतिपादन चाहते थे। शेष साथियों की समझ में ऐसा समाजवाद इतिहास द्वारा अप्रमाणित केवल कल्पना-मात्र था। वे देश के लिये समाजवादी व्यवस्था की कल्पना मार्क्सवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर ही कर सकते थे। आरम्भ में हमने समाजवाद के परिणामों को अपना लक्ष्य स्वीकार किया था बाद में हम उसके आर्थिक और दार्शनिक पक्ष के समीप आते गये। देश के क्रान्तिकारी लोगों की, विशेषकर हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातन्त्र संघ की यही सामूहिक प्रवृत्ति थी। इसका बहुत ठोस प्रमाण था अंदमान द्वीप की जेल में अधिकांश क्रान्तिकारियों का सामूहिक रूप से कम्युनिस्ट पार्टी में भरती हो जाना।

नैनी में हम लोगों ने ऐसा कार्यक्रम बना लिया था कि सुबह नाश्ता करने के बाद सामूहिक (क्लास लगाकर) अध्ययन करने के लिये बैठ जाते। जोगेश दादा इस अध्ययन में बहुत उत्साह से सहयोग देते थे। दोपहर में खाना खाने की छुट्टी होती और तीन बजे फिर मई की तपती दोपहरी में चाय पीकर पढ़ाई के लिये बैठ जाते। संध्या समय वालीबाल या बैडमिंटन खेल कर व्यायाम करते। रात में अपनी-अपनी पढ़ाई करते रहते। अर्थात् दिन में अर्थशास्त्र, दर्शन, राजनीति और रात में साहित्य। साथी शिवसिंह की मौजूदगी से इस अध्ययन का क्रम निश्चित करने में विशेष सहायता मिलती थी। यद्यपि शिवसिंह का क्रान्तिकारी दल से सम्बन्ध नहीं था परन्तु उसका जीवन अद्भुत अनुभवों की शृङ्खला थी। जवानी की पहली उमंग में सिख धर्म का प्रचार करने के लिये वह बर्मा पहुँचा। बर्मा से सिंगापुर, मलाया, होता हुआ आस्ट्रेलिया चला गया, आस्ट्रेलिया से अमेरिका। अमेरिका में कम्युनिज़्म की ओर प्रवृत्ति हो गयी। वहाँ से स्पेन, फ्रांस और जर्मनी होता हुआ रूस पहुँच गया। रूस

में उसने दो वर्ष तक नियमित रूप से अध्ययन किया। कुछ दिन मजदूर की तरह निर्वाह भी किया और फिर टर्की, ईरान आदि का चक्कर लगाता हुआ देश में लौट आया। हम लोग बिना गुरु या निर्देशक के एकलव्य की भाँति या मार्क्स के चित्र को ही गुरु मानकर अध्ययन करते रहते तो हमारे लिये अध्ययन उतना सुलभ न होता।

स्वाध्याय की हमारी इन बैठकों में सभी लोग अनिवार्य रूप से भाग लेते हों ऐसा नियम नहीं था। सान्याल दादा तो इस अध्ययन को ही गलत राह पर समझते थे या यह उनके लिये अनावश्यक था। कुछ साथी अंग्रेज़ी का या स्कूल कालिज की शिक्षा का आधार न होने से भाग नहीं ले पाते थे। एक-आध को इसमें रुचि ही नहीं थी। उदाहरणतः बनारस के सुविमलकुमार राय। राय ने बारक के भोजन का प्रबन्ध अपने जिम्मे ले लिया था। थोड़ा सा कच्चा मांस महीन-महीन काट कर हाथ में ले अपनी खाट पर लेट जाते। मांस के टुकड़े इधर-उधर फेंक-फेंक कर तीन चार बिल्लियों को लड़ा-लड़ा कर विनोद करते रहते। वे पढ़ते थे केवल 'स्टेट्समैन'। बारक में पत्र आते ही यदि सब से पहले उन्हें न मिलता तो वे कातर हो जाते। स्टेट्समैन में भी एक ही बात देखना आवश्यक समझते थे, रेलवे टाइम टेबल में कोई परिवर्तन हुआ है या नहीं? यह अभ्यास कई वर्ष से चल रहा था। उनका कहना था कि क्या मालूम किसी संयोग से कब छूट जायं। ऐसी हालत में रेल का टाइम मालूम न होने से बनारस की पहली गाड़ी छूट जा सकती थी।

राय स्पष्ट कहते थे कि राजनीति या क्रान्ति के प्रयत्न से उनका कोई सम्बंध नहीं था। उनके अनजाने में उनकी बहिन क्रान्तिकारियों को सहयोग और सहायता दे रही थीं। एक दिन उसने एक बम लाकर घर में रख लिया था। बम का विस्फोट हो गया। बहिन गिरफ्तार हो थाने में जायगी, पारिवारिक अपमान की आशंका राय बाबू के सामने आ गयी। उपाय सोचा वे स्वयं फरार हो जायें तो पुलिस उन्हें ही ढूंढ़ती फिरेगी। बहिन पर सन्देह हीं नहीं होगा। ऐसा ही किया भी। परन्तु अगले ही दिन परास्त हो गये और जाकर पुलिस के हाथ आत्म-समर्पण कर दिया। उन्हें फरारी में सबसे बड़ी कठिनाई यह पेश आयी कि पाखाने कहाँ जायें? बेचारे बंगाली भद्रलोक थे। अपने घर या शहर में रहने वाले सम्बन्धियों के घर के अतिरिक्त देहात या जंगल में कभी रहे नहीं थे। खेतों में या उजाड़ में जहाँ जाकर बैठते घास चुभने लगती। पहली बार तो एक पेड़ की आड़ पर खड़े हो निवृत्ति पायी। पर उसमें भी डर लगता

था। सो हवालात की सुरक्षा में जा बैठे परन्तु भद्रलोक परिवार की महिला की इज्जत पर आँच न आने दी। स्वयं सात वर्ष की जेल का दंड सह लिया। इसे भीरुता कहा जाय या साहस? हम लोग जितना मूल्य देश और मानवता के प्रति कर्त्तव्य की भावना से चुका रहे थे, सुविमल बाबू उतना ही भद्र परिवार की लड़की के बेपर्दा न होने देने के लिये चुका रहे थे और उन्हीं दिनों देश के बड़े से बड़े नेता (पं० जवाहरलाल नेहरू) की बहन और पत्नी डंके की चोट जेल जा रही थीं। भिन्न-भिन्न लोगों के लिये सम्मान की धारणाएँ भी कितनी परस्पर-विरोधी होती हैं।

रिहाई के मार्ग में अड़चनें

१९३७ जुलाई मास में गवर्नरों और वायसराय से, कम से कम हस्तक्षेप किया जाने का आश्वासन पा कर, ग्यारह प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने सरकार की बागडोर सम्भाल ली। कांग्रेस ने चुनाव में वोट मांगने के लिये जो घोषणापत्र निकाला था उसमें बिना किसी भेद के सभी राजनैतिक बन्दियों की रिहाई की प्रतिज्ञा भी थी। कांग्रेसी आन्दोलन के सब कैदी तो रिहा हो गये थे इसलिये जेल से मुक्ति की आशा के प्रभात का कुहासा क्षितिज पर दिखाई देने लगा। ठीक इसी समय दो साथियों के सिर शहीद बनने की इच्छा चढ़ बैठी। उन्होंने ऐलान किया कि वे सब साथियों की मुक्ति के लिये आमरण अनशन करना चाहते हैं। प्रायः सभी साथियों को यह काम उचित नहीं जँच रहा था। ऐसे समय बारक के प्रवक्ता की स्थिति कठिन हो गयी। यह कह देना कि अनशन करने वाले दो साथियों से हमें कोई मतलब नहीं उचित नहीं था और उनके साथ सहानुभूति प्रकट करना और भी अनुचित। एक और संकट, उस समय नैनी जेल में सुपरिन्टेन्डेन्ट भंडारी था। भंडारी हमारी किसी भी भूल से लाभ उठा कर नयी सरकार से शाबाशी पा लेने के लिये अवसर की खोज में था। सरकार या विधान सभा के अनेक सदस्यों से क्रान्तिकारियों के व्यक्तिगत परिचय होने के कारण स्थिति अधिक खराब नहीं हो सकी।

काकोरी के मामले के रामकृष्ण खत्री सज़ा पूरी कर कुछ दिन पहले रिहा हो चुके थे। वे इस अवसर पर शेष क्रान्तिकारी कैदियों की रिहाई के लिये मन्त्रियों के चारों ओर घूमते रहते थे। खत्री जेल में आकर हमें भी आश्वासन दे जाते। वे नये कांग्रेसी राज के परिवर्तनों की बातें सुनाते। सचिवालय और विधान सभा पर गांधी टोपी और खद्दर के कपड़ों का [illegible]

कायम हुआ था। पहरे पर नियुक्त पुराने गोरे और एंग्लोइंडियन सार्जेन्ट मंत्रियों तथा नेताओं के चेहरे पहचान नहीं पाते थे। लत्री ने बताया कि उनके मंत्रियों से मिलने के लिये विधान सभा या सचिवालय में जाने पर गोरा सार्जेन्ट एड़ी से एड़ी ठोंक कर उन्हें फट्ट से सलूट मारता है। यह सुन कर हमारे कई नव-युवक साथियों को रोमांच हो आया। अब और क्या चाहिये था ?

लगभग अगस्त का महीना था। बड़े साहब से लेकर अदना वार्डर तक अपनी वर्दी के बटन मांज कर दुरुस्त हो गया। जेल में कंपकंपी-सी छायी थी—मुख्य-मन्त्री आ रहे हैं। हम लोग ऐसे निश्चिन्त और प्रसन्न थे मानो अपने बाप ही मिलने आ रहे हों। जेल के वार्डरों और [illegible] के अर्द-लियों की रक्षा में मुख्यमन्त्री पं० गोविन्दवल्लभ जी पन्त, श्री वेंकटेशनारायण जी तिवारी के साथ आये। पहले वाली बात नहीं थी कि कैदी और आला अफ़सर के बीच दस कदम का फासला रहना ही चाहिये और बीच में वार्डर, अर्दली और जेल के अफ़सर मौजूद रहें। हम से बुत की तरह निश्चल और सीधे खड़े रहने की आशा की जाती। पन्त जी शरीर रक्षकों की आड़ से आगे बढ़ कर हम लोगों की पीठों पर हाथ रख-रख कर मिले, हालचाल पूछा। बड़े साहब, छोटे साहब और जेल के पूरे अमले को हाते से बाहर हटा दिया गया। पन्त जी और तिवारी जी हम लोगों के बीच रह गये। जेल के इतिहास में यह नयी अनहोनी बात थी।

पन्त जी ने हम लोगों को आसपास बुलाकर और बीच में बैठकर बात शुरू की। उन्होंने कुछ ऐसी बात कही—"कांग्रेस अपने चुनाव के प्रतिज्ञापत्र में ही सब राजनैतिक बन्दियों को रिहा कर देने की नीति की घोषणा कर चुकी है। आप लोग भी जेल में नहीं रहेंगे, यह तो निश्चय ही है। लेकिन सत्याग्रही अहिंसात्मक बन्दियों और शस्त्र और हिंसा का प्रयोग करने के लिये अभियुक्त बन्दियों में अन्तर रखा जाता रहा है। हमें तो पूरा विश्वास है कि बदली हुई परिस्थितियों में आप लोग हिंसा में विश्वास नहीं रखते। आप लोगों की रिहाई के लिये कोई शर्त नहीं रखी जा रही है। आप से कुछ लिख कर देने के लिये भी नहीं कहा जा रहा। आप हमारे अपने ही हैं। हम से कोई बात कहने में भी आपके स्वाभिमान का प्रश्न नहीं है। यदि आप हम से कह दें कि अब आप का विश्वास हिंसा में नहीं है तो गवर्नर से आपकी रिहाई की बात करते समय हम अधिकार और बल से कह सकते हैं कि आपका विश्वास

हिंसा में नहीं है। आप लोगों को जेल में रखने का कोई कारण नहीं है।"
आदि आदि।

हम लोग पन्त जी की बात सुन कर अभी चुप ही थे कि सान्याल दादा ने स्वाभाविक ढंग से बैठे-बैठे ही उत्तर दे दिया—"हिंसा तो हमारा ध्येय कभी भी नहीं था। आप के सामने हमारे यह कह देने से कि मौजूदा परिस्थितियों में हिंसा में हमारा विश्वास नहीं है, यदि आपके हाथ मजबूत होते हैं तो हमें क्या आपत्ति हो सकती है?" पन्त जी ने भी सान्याल दादा की बात पर संतोष प्रकट किया। अपने साथियों के चेहरों पर भी संतोष ही दिखाई दे रहा था। परन्तु मुझे यह सब अच्छा नहीं लग रहा था।

खड़े होकर मैंने दो शब्द कहने की आज्ञा मांगी और निवेदन किया—"………आपने राजनैतिक बन्दियों की रिहाई के सम्बन्ध में कांग्रेसी सरकार की नीति के विषय में जो बात कही है उस पर हमें पूरा विश्वास है। आपके सामने कोई भी बात स्पष्ट रूप से कह देने में भी हमें कोई संकोच नहीं है। परन्तु किसी भी बात का अभिप्राय स्थिति और समय के अनुसार हो जाता है। आप हम पर कोई शर्त नहीं लगा रहे परन्तु जब हम अपनी रिहाई के सवाल पर कोई बात कहते हैं तो उस बात और रिहाई में कार्य-कारण सम्बन्ध हो ही जायगा। यदि हम आज कहें कि बदली हुई परिस्थितियों में हिंसा में हमारा विश्वास नहीं रहा तो इसका अर्थ हो जाता है कि पहले हमारा विश्वास हिंसा में था। वास्तव में हिंसा तो हमारा ध्येय कभी भी नहीं था। हम यह भी कहना नहीं चाहते कि हमें रिहा कर दिया जाये। हम आप से कोई माँग कर के आपको परेशानी में नहीं डालना चाहते। यदि आपकी नीति ऐसी है और यह जनता की मांग है तो रिहा कर दीजिये। वर्ना देश का जो भला होगा हमें उसी से संतोष हो जायगा। आज अपनी रिहाई के प्रश्न पर हम जो कुछ कहेंगे उसका सम्बन्ध प्रार्थना या शर्त के रूप में रिहाई से हो ही जायगा। हम लोगों ने अब तक जैसे आत्म-सम्मान निबाहा है हम आशा करते हैं आप भी चाहेंगे कि वह निबहता रहे। इस अवसर पर हम से यह कहने की आशा करना कि 'हमें अब हिंसा में विश्वास नहीं रहा' असंगत है। हमें जो कुछ कहना था पहले कई बार कह चुके हैं। हमें सब प्रश्नों पर देश की जनता का निर्णय मंजूर है।" अन्त में मैंने यह भी कह दिया—"मैं यह बात बारक में रहने वाले साथियों द्वारा नियत प्रवक्ता के रूप में सबकी ओर से कह रहा हूँ। परन्तु इस प्रश्न पर संयुक्त

रूप से विचार करने का हमें कोई अवसर नहीं मिला इसलिये यदि साथी मुझ से सहमत न हों तो अपना विचार प्रकट कर सकते हैं।"

मेरे बैठ जाने पर सन्नाटा ही रहा। केवल जोगेश दादा ने खड़े होकर दो शब्द कहे—"साथी यशपाल ने जो कुछ कहा है मैं उसका समर्थन करता हूँ।" दूसरे साथियों का भी भाव उनके चेहरों से स्पष्ट था। सान्याल दादा ने भी समर्थन किया—"हां ठीक है।"

पन्त जी ने सिर हिला कर आश्वासन दिया—"बात तो ठीक है, यह कोई शर्त नहीं है। हमें जो करना है, हम करेंगे ही।"

इसके बाद वेंकटेशनारायण जी हममें से एक एक को लेकर कुछ देर टहलते रहे। मुझ से भी बात की कि यह तो केवल टेक्नीकल यानि औपचारिक बात है। मेरा आग्रह था कि लक्ष्य के बारे में मतभेद तो कुछ है नहीं। प्रश्न तो यही है कि रूप क्या हो, सामने क्या आये। सामने तो ढंग या वस्तु का औपचारिक रूप ही आता है।

उपरोक्त घटना के बाद तीन सप्ताह या एक मास बीते होंगे, रामकृष्ण खत्री हम लोगों से मिलने आये। उन्होंने बताया कि हम लोगों की जेल से मुक्ति की आशा हो गयी है। नैनी सेन्ट्रल जेल में आज्ञा के पहुँचने में दो-तीन दिन लग सकते हैं, ठीक तारीख बताना कठिन है। उनका अनुरोध था कि जेल से छोड़ दिये जाने पर हम लोग मन चाहे जहाँ-तहाँ या अपने-अपने घर न भाग जायें। सब लोग कांग्रेस के दफ्तर स्वराज्य भवन में इकट्ठे हों ताकि क्रान्तिकारी बन्दियों की मुक्ति पर उनका उचित आदर किया जा सके, उनका जुलूस निकाला जा सके। यह प्रस्ताव प्रायः सभी को अच्छा लगा परन्तु मैंने इस बन्धन से छूट चाही। निवेदन किया—"भाई ये जुलूस-वलूस अपनी प्रकृति और स्वभाव के अनुकूल नहीं है।"

रामकृष्ण खत्री ने डाँट दिया—"नहीं नहीं, यह व्यक्तिगत मामला नहीं है। क्रान्तिकारियों का सामूहिक प्रश्न है। हम लोगों के विरुद्ध समय-समय पर ग़लत प्रचार किया गया है। जब सान्याल दादा, जोगेश दादा और दूसरे साथी जनता के सामने अपने विचार प्रकट करेंगे तो लोगों को पता लगेगा कि हम लोग क्या हैं।"

मैं उनसे सहमत नहीं हो सका। फिर भी आग्रह किया—"देखो भाई, हम छूट रहे हैं परिस्थितियों के कारण। मुझे तो ऐसा नहीं जान पड़ता कि

हमने संग्राम में विजय प्राप्त कर ली हो। इसलिये विजेता की भाँति अपना जुलूस निकलवाने में संकोच होता है। यह कांग्रेस की विजय है। हम कांग्रेसी नीति के कारण छोड़े जा रहे हैं। हमारे लक्ष्य तो पूरे हुए नहीं हैं। ख्याल है, हमें तो अपने लक्ष्यों के लिये प्रयत्न जारी रखना ही पड़ेगा।"

जोगेश दादा ने भी मेरी बात का समर्थन किया और जुलूस-वलूस में शामिल होने के लिये अनिच्छा प्रकट कर दी। सभी ने यह निश्चय किया कि छूटने पर सब लोग स्वराज्य भवन में एकत्र तो जरूर हों फिर उचित-अनुचित देख लिया जायगा।

एक बार फिर हमारे हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातन्त्र संघ के, लक्ष्यों के पूरा हो जाने या न हो जाने का प्रसंग आ गया है। यह प्रश्न भी असंगत नहीं है कि हमारे लक्ष्य पूरे नहीं हो गये तो हि०स०प्र०स० समाप्त क्यों हो गया और समाप्त नहीं हो गया तो उसका हुआ क्या? संस्था और संगठन के रूप में वह कायम क्यों नही रहा।

हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातन्त्र संघ के लक्ष्य सूत्र रूप में तो समाजवादी शब्द से प्रकट हो जाते हैं। इस संस्था ने अपने घोषणापत्र 'बम का दर्शन' में अपना लक्ष्य यों स्पष्ट किया था—"....क्रान्ति से हमारा अभिप्राय केवल जनता और विदेशी सरकार में संघर्ष ही नहीं है। हमारी क्रान्ति का लक्ष्य एक नवीन न्यायपूर्ण व्यवस्था है। इस क्रान्ति का उद्देश्य पूंजीवाद को समाप्त करके श्रेणी-हीन समाज की स्थापना करना और विदेशी और देशी शोषण से जनता को मुक्त करके आत्म-निर्णय द्वारा जीवन का अवसर देना है। इसका उपाय शोषकों के हाथ से शासन-शक्ति लेकर मज़दूर श्रेणी के शासन की स्थापना ही है।" जहाँ तक विदेशी शासन से मुक्ति का प्रश्न था, लक्ष्य पूरा हो गया परन्तु हमारा श्रेणी-हीन समाज का लक्ष्य तो पूरा नहीं हुआ। हमारे लक्ष्य युक्तिसंगत थे या नहीं, इस विषय में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि १९५५ की मद्रास कांग्रेस में पं०जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस के वही लक्ष्य बताये हैं जिनकी हि०स०प्र०स० ने १९३० या उससे पूर्व घोषणा की थी। यह लक्ष्य अभी तक पूरे न होने पर हि०स०प्र०स० संस्था के रूप में विलीन क्यों हो गया?

मेरे विचार में इस प्रश्न का उत्तर हिं०स०प्र०स० के संक्षिप्त से इतिहास में ही समाहित है। क्रान्ति भावनाओं के विकास की प्रक्रिया का परिणाम होती है। हिन्दुस्तान प्रजातंत्र संघ ने अपने विकास के परिणाम में हिन्दुस्तान

समाजवादी प्रजातंत्र संघ का रूप ले लिया था परन्तु विकास का क्रम बन्द तो हो नहीं जाना चाहिये था। जेल में बन्द साथियों को जब अध्ययन और विचार का अवसर मिला और उन्हों ने अनुभव किया कि उनके लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अधिक व्यापक और उनकी अपेक्षा अधिक विकसित और वैज्ञानिक ढंग से चलने वाले संगठन का विकास कम्यूनिस्ट पार्टी के रूप में हो चुका है; अन्दमान में उन्हों ने अपने आप को सामूहिक रूप से कम्यूनिस्ट पार्टी में खपा दिया था। मेरे विचार में इन साथियों का अपनी संस्था और संगठन के अस्तित्व का मोह न कर लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अधिक व्यापक संस्था में अपने आपको खपा देना उनकी निर्बलता और पराजय नहीं थी बल्कि अपने व्यक्तिगत और सामूहिक अहंकार को लक्ष्य के लिये निछावर कर देना था।

इस प्रसंग में मेरी रिहाई के बाद की एक घटना अनुपयुक्त नहीं होगी। मुझे काफ़ी खराब बीमारी की हालत के बाद १६३८ मार्च में जेल से छोड़ा गया था। छूटते ही अड़तालीस घंटे के भीतर भुवाली सैनीटोरियम पहुँच जाने की भी आज्ञा थी। वहाँ से अगस्त में लौटकर आया। रिहाई के बाद हम लोगों के अधिकांश साथी निर्वाह की चिंता में और राजनैतिक परिस्थितियों के प्रभाव से अपने आपको जहाँ-तहाँ खपा बैठे थे परन्तु जोगेश दादा तब भी अपना जीवन जनता की मुक्ति के संघर्ष में अपने ढंग से लगाने की बात पर अड़े हुए थे। अब भी वैसा ही कर रहे हैं। जेल के परिचय से उन्हें मुझ पर काफ़ी विश्वास था कि मैं भी इसी मार्ग पर डट सकूँगा। सितम्बर में वे मिलने आये और प्रश्न सामने रखा, अब हम लोगों का अर्थात हि०स०प्र०स० का क्या कदम होना चाहिये ?

मैंने हि०स०प्र०स० के लक्ष्यों की चर्चा करके पूछा—"कम्युनिस्ट पार्टी के लक्ष्यों और हमारे लक्ष्यों में क्या अन्तर है ?"

जोगेश दादा को भेद कोई नज़र नहीं आया। उन्होंने प्रश्न से ही उत्तर दिया—"तो क्या हम अपने अस्तित्व को बिलकुल खो दें; उसे मटियामेट कर दें ?"

मेरा उत्तर था कि संस्था या संगठन के रूप में केवल अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये दो एक प्रतिद्वन्द्वी संस्था बनाये रखने के लिये यत्न करते रहना मैं उचित नहीं समझता। उस दिन के बाद से जोगेश दादा का मेरे

प्रति भरोसा समाप्त हो गया। उसके बाद से जोगेश दादा ने रेवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी का संगठन कर लिया। उनके लक्ष्यों और कम्युनिस्ट पार्टी के लक्ष्यों में अंतर कोई नहीं। झंडा भी वे हंसिये हथौड़े का ही रखते हैं पर उनका संस्थात्मक अस्तित्व पृथक है। सम्भव है वे समझते हों कि कम्युनिस्ट पार्टी की नीति विदेशी प्रभाव से निश्चित होती है और उनकी पार्टी स्वतंत्र भारतीय कम्युनिज्म की पोषक है। विचारों की समता के नाते भारतीय कम्युनिस्टों का कम्युनिस्ट देशों से सहानुभूति रखना और उनके अनुभव से लाभ उठाने की इच्छा रखना एक बात है। ऐसा तो किसी कम्युनिस्ट को कहते नहीं सुना कि वे भारत का भाग्य किसी अन्य कम्युनिस्ट देश को सौंप देने के लिये तैयार हैं।

मेरे अधिकांश पाठकों और वैसे भी बहुत से लोगों का अनुमान रहा है कि मैं भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का मेम्बर हूँ। यह मालूम होने पर कि मैं मेम्बर नहीं हूँ, कुछ लोगों को विस्मय भी होता है। १९४९ फरवरी में कम्युनिस्टों की अंधाधुंध गिरफ्तारियों के समय पुलिस ने मुझे भी गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया था। प्रकाशवती ने उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री पंत जी से गिला किया कि यशपाल तो कम्युनिस्ट पार्टी का या किसी ट्रेड यूनियन का मेम्बर नहीं है। उसे क्यों गिरफ्तार किया गया? पंत जी का पहला उत्तर तो था कि उन्हें मेरी गिरफ्तारी के बारे में मालूम ही नहीं था परन्तु अपनी पुलिस की पीठ पर हाथ रखे रहने के लिये पंत जी ने क्रोध भी प्रकट किया—"यशपाल मेम्बर नहीं है तो क्या हुआ, लिख-लिख कर दूसरों को तो कम्युनिस्ट बनाता है।"

पंत जी द्वारा लगाये गये इस इलज़ाम के विरुद्ध कोई सफ़ाई देना मैं आवश्यक नहीं समझता। पंत जी स्वयं ही कहेंगे कि कांग्रेसी राज में विचारों की और विचारों के प्रचार की स्वतंत्रता है।

प्रायः लोग यह भी पूछते हैं कि मैं किसी भी पार्टी का मेम्बर नहीं हूँ, क्या मैंने राजनीति से सम्पर्क छोड़ दिया है?

राजनीति से सम्पर्क छोड़ देने का मतलब है अपने देश और समाज की अवस्था और भविष्य से कोई नाता न रखना। ऐसी बैरागी मैं नहीं हूँ। जेल से छूटने के बाद से विद्यार्थी जीवन की, जेल में दुबारा पोसी गयी भावना फिर जाग उठी है कि मुझे जो कुछ भी करना है, साहित्य के साधन से ही करूं। विद्यार्थी जीवन के समय विदेशी शासन की उत्तेजक परिस्थितियों का

प्रभाव कहिये या अपने साथियों भगवतीचरण, भगतसिंह, सुखदेव आदि के बलिदान हो जाने के लिये आगे बढ़ जाने की उत्तेजना कहिये या मुझ पर उनका प्रभाव कहिये कि वे मुझे खींच ही ले गये। मेरा ख़याल है उसे मैंने निबाहा भी। इस बार या तो मेरा निश्चय बहुत दृढ़ था या मुझे प्रभावित कर सकने वाले व्यक्तियों से वास्ता नहीं पड़ा। मैं साहित्य के ही माध्यम में सीमित रह सका हूँ।

हां, रिहाई की बात कह रहा था। रामकृष्ण खत्री के हमें समझा कर जाने के तीन-चार दिन बाद मुझे मामूली सा बुखार और इनफ्लुएंज़ा हो गया। बुखार के तीसरे ही दिन से खांसी में खून आने लगा। ऐसी अवस्था में क्रांतिकारी बन्दियों की रिहाई का हुक्म आया। काकोरी के तो सभी बन्दियों की रिहाई हो गयी, कुछ और की भी। मैं और कुछ थोड़े से ही रह गये। इन में से शिवसिंह, बनर्जी, बलराज, शिवराज आदि की तो सजाएँ भी अधिक नहीं थीं। आशा थी जल्दी ही हम लोगों की भी रिहाई हो जायगी। न जाने क्यों मेरी अवस्था गिरती ही जा रही थी। मेजर भंडारी अपनी ताकत लगाये दे रहे थे पर खून का गिरना बढ़ता ही जा रहा था। यह भी निश्चय नहीं हो पा रहा था कि खून फेफड़ों से आ रहा है या गले की नाली से। एक दिन खून इतना गिरा कि सोचा जाने लगा कि आपरेशन कर दिया जाये। जेल और सरकार में बहुत ज़ोर से लिखा पढ़ी चल रही थी। बाद में मालूम हुआ कि उस समय का अंग्रेज़ गवर्नर हालेट और सब को रिहा कर देने के लिये तैयार था परन्तु मुझे नहीं। हालेट साहब को इस बात पर भी गुस्सा था कि हमारे जो साथी उस समय नैनी से छूटे थे उनका बहुत बड़ा जुलूस निकाला गया था और उन लोगों ने व्याख्यानों में यह कहा था कि अंग्रेज़ों की छत्र-छाया में और असली शक्ति अंग्रेज सरकार के हाथ में रख कर जो कांग्रेसी सरकारें कायम की गयी हैं, इनसे उन्हें संतोष नहीं है। वे देश की पूर्ण आज़ादी के लिये लड़ते ही रहेंगे।* कांग्रेसी मंत्री पंत जी और रफ़ी अहमद किदवाई साहब जब मेरे स्वास्थ्य की चिंताजनक स्थिति के आधार पर मेरी रिहाई की मांग करते तो गवर्नर को संदेह होता, यह बहानेबाजी है। गवर्नर ने इलाहाबाद के सिविल सर्जन लार्ड, सरकारी तपेदिक विशेषज्ञ डा० टंडन और एक फौजी

* जिम्मेवार कांग्रेसी नेता पं० नेहरू आदि भी १९३७ के कांग्रेसी शासन को स्वराज्य नहीं कहते थे।

कर्नल डा० बासू को मुझे देखने के लिये भेजा। इन डाक्टरों की राय आपस में नहीं मिली।

मुंह से खून गिरना बन्द होने पर मेरी अवस्था सुधरने लगी। पर मैं हस्पताल में अभी बिस्तर पर ही था कि शेष साथी भी छूट गये। मैं अकेला रह गया। एक दिन हुक्म आया कि मुझे नैनी सेन्ट्रल जेल से लखनऊ जिला जेल में पहुँचा दिया जाये। जेल जीवन में पहली बार बिना बेड़ी के यात्रा की। विचार था कि शायद लखनऊ मुक्त कर देने के लिये ही ले जाया जा रहा है। लखनऊ पहुँचने पर रफ़ी अहमद किदवाई साहब मिलने आये। उन्होंने साफ़-साफ़ बात की कि मेरी रिहाई पर गवर्नर और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल में जबरदस्त तनातनी चल रही है। गवर्नर ने आखिरी अड़चन यह डाली थी कि यशपाल पंजाबी है। जेल से छूटने पर वह पंजाब जायेगा। पंजाब की सरकार शायद यह पसन्द न करे। पंजाब की सरकार की राय इस विषय में ले लेनी चाहिये। उस समय पंजाब में कांग्रेसी सरकार नहीं, अंग्रेज़ भक्त सर सिकन्दर की सरकार थी। वे भला मेरे जैसे आदमी की रिहाई के लिये क्या स्वीकृति देते ? इसीलिये गवर्नर ने यह तर्क दिया था। गवर्नर के इस सुझाव से मेरी रिहाई न हो सकती थी। लाहौर षड़यन्त्र के अभियुक्त शिव वर्मा, जयदेव कपूर आदि को सर सिकन्दर हयात की सरकार ने मेरी रिहाई के भी कई वर्ष बाद मुक्त किया था।

किदवाई साहब चाहते थे कि मैं यह शर्त स्वीकार कर लूं कि मैं रिहाई के बाद पंजाब नहीं जाऊँगा और वे गवर्नर का मुंह बन्द कर सकें।

कुछ सोच कर किदवाई साहब को उत्तर दिया कि रिहाई के लिये शर्त के नाम पर इतनी सी बात कह देना भी मुझे अच्छा नहीं लगता। शर्त से बचने का एक उपाय बता सकता हूँ। मैं आपके नाम ऐसा पत्र लिख दूँगा जिसमें यह शर्त न होने पर भी गवर्नर के एतराज़ की काट हो जाये।

किदवाई साहब उस समय जेल-मन्त्री थे। उन्होंने जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट कर्नल जाफ़री को आदेश दिया कि मैं जो भी पत्र लिख कर दूँ, वह तुरन्त सिपाही के हाथ उन्हें भिजवा दिया जाये।

अगले दिन मैंने जेल-मन्त्री के नाम इस आशय का पत्र लिखा:—

"मेरे साथ के सभी बन्दियों की रिहाई हो गयी है। आशा है कि कुछ ही दिन में मेरी भी रिहाई हो जायगी। इस समय मेरा स्वास्थ्य चिन्ताजनक है।

सुरेन्द्र पांडे (सन् १९३१)

यशपाल जेल से रिहाई के समय

रिहाई के बाद मेरी पत्नी का विचार मुझे इलाज के लिये तुरन्त स्विटज़रलैंड ले जाने का है। उसकी तैयारी में कुछ समय लगेगा। मेरा घर तो बहुत दूर, पंजाब के कांगड़ा पहाड़ में है। ऐसे स्वास्थ्य में इतनी दूर सफ़र करने का मेरा विचार नहीं है। कांगड़े के देहात में रहते समय इलाज की ठीक व्यवस्था भी नहीं हो सकेगी इसलिये अनुरोध है कि आप मेरी रिहाई के बाद स्विटज़रलैंड जा सकने से पहले मेरे ठहरने का प्रबन्ध भुवाली के सैनीटोरियम में करवा दें...."

पत्र लिख कर मैं उत्तर की प्रतीक्षा में था। २ मार्च, १६३८ का दिन अस्त हो गया। संध्या हुई और जेल बन्द हो गयी। तभी देखा कि हाते में दो जमादार भागे-भागे आ रहे हैं। बारक और हाते में मैं अकेला ही था। जमादारों के पीछे किदवाई साहब और सुपरिन्टेन्डेन्ट आ रहे थे। बारक का ताला खोला गया। किदवाई साहब अपना गरारानुमा पायजामा पहने धीमे-धीमे आकर समीप खड़े हो गये। उनकी चुप मुद्रा से समझा शायद मामला बिगड़ गया।

मैंने सलाम कर बैठने के लिये कहा।

बोले—"चलिये।"

"कहाँ?"—मैंने पूछा।

"घर। कुछ साथ लेना है तो ले लीजिये, अपनी किताबें वगैरा।"

जमादारों ने मेरी किताबें उठा लीं। जेल का बिस्तर वहीं ही छोड़ दिया।

जेल के फाटक से बाहर आये तो झुटपुटा अंधेरा हो चुका था। किदवाई साहब की गाड़ी में बैठ गये। गाड़ी चलते ही वे बोले—"अब तो छूट गये जेल से!....कैसा लग रहा है छूट कर?"

"आशा तो थी कि बहुत विचित्र लगेगा परन्तु अकस्मात नहीं छूटा हूँ, प्रतीक्षा भी इसलिये जान पड़ रहा है कि स्वाभाविक सी बात ही हुई है।" मैंने उत्तर दिया।

"मैं तो शायद कल या परसों तुम्हें लेने आता पर प्रकाशवती ने नाक में दम कर रखा है। सोचा, उसके फिर आकर ~~कुछ पूछने कहने~~ से पहले ही तुम्हें जाकर ले आऊँ।"